मासिक समाचारपत्र ● पूर्णांक 74 ● वर्ष 8, अंक 11 ● जनवरी 2019 ● पाँच रुपये ● 16 पृष्ठ

मज़दूर बिगुल

8-9 जनवरी की आम हड़ताल से मज़दूरों ने क्या पाया? 3

आर्थिक रूप से पिछड़ों को 10 प्रतिशत आरक्षण के मायने 7

ग़ैर-सरकारी संगठनों का सरकारी तन्त्र 8

नये साल के मौक़े पर

केवल सत्ता से ही नहीं, पूरे समाज से फ़ासीवादी दानव को खदेड़ने का संकल्प लो!

सम्पादक मण्डल

बार फिर से कांग्रेस पर दाँव लगाने की फ़िराक़ में है और संसदीय वाम समेत तमाम प्रगतिशील लोग भी फ़ासीवाद को शिकस्त देने के लिए राहुल गाँधी और कांग्रेस की शरण में जाते दिख रहे हैं। इस परिदृश्य में यह सवाल लाज़िमी है कि मज़दूर वर्ग की रणनीति क्या होनी चाहिए? 'मज़दूर बिगुल' के पन्नों पर हम लगातार यह कहते आये हैं कि फ़ासीवाद एक व्यापक सामाजिक आधार वाला धुर प्रतिक्रियावादी सामाजिक आन्दोलन है जो सत्ता में न रहने पर भी समाज में मौजूद रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि फ़ासीवाद-विरोधी मज़दूर वर्ग की रणनीति केवल भाजपा को चुनावों में हराने तक सीमित नहीं रह सकती। इस नये साल में मज़दूर वर्ग और उसके हितों की नुमाइन्दगी करने वालों के सामने मुख्य चुनौती यह है कि किस प्रकार फ़ासीवाद का सामाजिक आधार कमज़ोर करके जनता के व्यापक हिस्सों तक मज़दूर वर्गीय दृष्टिकोण पहुँचाया जाये और समाज में परिवर्तनकामी विचारों को फैलाकर आमूलचूल बदलाव की तैयारी की जाये। इस लिहाज़ से आगामी लोकसभा चुनाव बहुत महत्वपूर्ण होने वाले हैं क्योंकि चुनावी राजनीतिक सरगर्मी में सर्वहारा वर्ग का स्वतन्त्र पक्ष रखने का मौक़ा मिलेगा। लेकिन उस पर चर्चा करने से पहले आइए हम पहले पिछले साल के प्रमुख घटनाक्रम पर नज़र दौड़ा लें, ताकि हमें वस्तुस्थिति का ठोस अन्दाज़ा हो सके।

वर्ष 2014 में खस्ताहाल आर्थिक स्थिति और मनमोहन सिंह के नेतृत्व वाली संप्रग सरकार की लूट-खसोट और घपले-घोटालों की वजह से ख़त्म होती लोकप्रियता को देखते हुए भारत के पूँजीपति वर्ग ने नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व वाली भाजपा के फ़ासीवादी विकल्प पर अपना दाँव लगाया था जिसकी बदौलत भाजपा को अभूतपूर्व जीत हासिल हुई थी। जनता की हाड़तोड़ मेहनत से अर्जित करोड़ों रुपये पानी की तरह बहाकर मोदी लहर चलायी गयी जिसकी वजह से आम जनता को भी कुछ समय तक यह उम्मीद जग गयी थी कि वाक़ई उसके अच्छे दिन आने वाले हैं। लेकिन मोदी सरकार के कार्यकाल के दौरान यह उम्मीद न सिर्फ़ नाउम्मीदी में तब्दील हो गयी, बल्कि मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी बद से बदतर होती गयी और लूट-खसोट तथा घपले-घोटालों में भाजपाइयों ने वो कर दिखाया जो कांग्रेस 60 साल में नहीं कर पायी थी। अर्थव्यवस्था में सुधार तो दूर, उसकी हालत और लचर होती गयी। यही वजह है कि चुनावी अखाड़े में कभी अपराजेय दिखने वाले नरेन्द्र मोदी और भाजपा की स्थिति अपने कार्यकाल के अन्त तक आते-आते दयनीय हो चुकी है और अगले लोकसभा चुनाव में उनकी मिट्टी पलीद होने की सम्भावना साफ़ नज़र आने लगी है। पिछले साल के अन्तिम महीने में 5 राज्यों के चुनावी नतीजों से यह साफ़ हो गया कि भगवाधारियों का चुनावी विजय का अभियान ढलान पर है। यही वजह है कि पूँजीपति वर्ग का एक हिस्सा एक

पिछले साल अगर फ़ासीवादी उन्मादी लहर उतार पर दिखी तो उसकी मुख्य वजह अर्थव्यवस्था की खस्ताहाल स्थिति रही। ग़ौरतलब है कि लचर अर्थव्यवस्था को सुधारकर लोगों की ज़िन्दगी में बेहतरी लाने का वायदा करके ही फ़ासीवादी सत्ता में आये थे। लेकिन सत्ता के नशे में चूर होकर उन्होंने अपनी करतूतों से पहले से ही बीमार अर्थव्यवस्था की कमर तोड़कर रख दी। नोटबन्दी और जीएसटी की मार का असर पिछले साल भी जारी रहा और मज़दूरों, छोटे किसानों और छोटे व्यापारियों की तबाही का सिलसिला बरकरार रहा। औद्योगिक विकास की दर में भी कोई विचारणीय बढ़ोतरी नहीं हुई। बैंकों के एनपीए की समस्या

(पेज 9 पर जारी)

संकट में धँसती पूँजीवादी व्यवस्था

संकट का सारा बोझ आम मेहनतकश जनता पर ही पड़ने वाला है!

– मुकेश असीम

साल 2018 का अन्त इन ख़बरों के साथ हुआ है कि विश्व पूँजीवाद के निरन्तर जारी आर्थिक संकट में तेज़ी व ध्वंस का एक और दौर आने ही वाला है। साथ ही, पूँजीवादी व्यवस्था के संकट की धुरी भी अब पूरब की ओर बढ़ रही है। जहाँ पिछली बार संकट की गहनता का मुख्य केन्द्र यूरोप-अमेरिका के विकसित पूँजीवादी देश ही थे और चीन-भारत आदि जैसे पूँजीवादी देशों पर इसका असर कुछ हद तक सीमित था, इस बार चीन-भारत जैसे देश भी वैश्विक संकट की तीव्रता का बुरी तरह से शिकार होते नज़र आ रहे हैं। चीन में कारों से लेकर आई-फ़ोन तक की बिक्री में पहले ही इतनी गिरावट आ चुकी है कि वहाँ बिक्री करने वाली दुनिया-भर की कम्पनियों में श्रमिकों की छँटनी और उनके शेयर दामों में गिरावट की ख़बरें अभी से आने लगी हैं।

यही वजह है कि विश्व-भर के शेयर बाज़ार आसन्न मन्दी की आहट से काँपने लगे हैं। अमरीकी एसएण्डपी500 सूचकांक 21 सितम्बर 2018 की ऊँचाई से 20% तक गिर चुका है। महीने में 14.82% की गिरावट से दिसम्बर 2018 इसका अक्टूबर 2008 के वित्तीय संकट के वक़्त से सबसे खराब महीना था, जब यह 16.94% गिरा था। लन्दन का स्टॉक्स यूरोप 600 भी पिछले वर्ष में 14% नीचे गिरा है। जापान का निक्केई 225 भी अक्टूबर 2018 के बाद से 21% नीचे है। चीनी शेयर बाज़ार भी अब 2014 के बाद के अपने निम्नतम स्तर पर है। आसन्न मन्दी की इसी आहट की वजह से ही विश्व बाज़ार में क्रूड की माँग और दाम गिरने लगे हैं। भारत की स्थिति देखें तो ब्लूमबर्ग की रिपोर्ट के अनुसार वैश्विक बाज़ार में बढ़ते संकट की वजह से विदेशी निवेशक संस्थान पिछले पूरे साल भारतीय शेयर बाज़ार से पैसा निकालते रहे, लेकिन बाज़ार को सँभालने हेतु घरेलू संस्थान उससे चार गुना पैसा बाज़ार में झोंकते रहे। फिर भी सेंसेक्स 34 व 35 हज़ार के बीच अटक गया है और सारी कोशिशों के बावजूद ऊपर नहीं उठ पा रहा। ऐन चुनाव के पहले इस संकट को किसी तरह टालने के वास्ते मोदी सरकार रिज़र्व बैंक से लेकर एलआईसी, एसबीआई, वग़ैरह सारे सरकारी तन्त्र को शेयर बाज़ार सँभालने में झोंके हुए है, मीडिया में

(पेज 16 पर जारी)

बजा बिगुल मेहनतकश जाग, चिंगारी से लगेगी आग!

आपस की बात

(हम आपके सामने आज के हालात पर हरियाणा के जनकवि रामधारी खटकड़ की एक रागनी प्रस्तुत कर रहे हैं। किसान परिवार में जन्मे रामधारी खटकड़ हरियाणा की मेहनतकश जनता की बुलन्द आवाज़ के एक सशक्त हस्ताक्षर हैं। ये काव्य की रागनी/रागिनी या रागणी की विशिष्ट हरियाणवी शैली में लिखते हैं। इनकी कविताई बड़े ही सहज-सरल और साफ़गोई के साथ सामाजिक यथार्थ को प्रस्तुत करने में सक्षम है।)

दौर-ए-संकट

- रामधारी खटकड़

संकट बढ़ता जारया सै इब धरकै उरै नै ध्यान सुणो
बेरुजगारी, बेकारी म्हं फँसती जा री जान सुणो। (टेक)

1. पूँजीवादी सिस्टम के म्हं, आपस का ना प्यार रहै
घर-घर झगड़े होते देखो, रोज़-रोज़ तकरार रहै
असली दुश्मन दिक्खै ना वो, छिपकै करता वार रहै
फूट पड़े जा मेहनतकश म्हं, राज्जी न्यूँ साहुकार रहै
क्रान्ति बिन ना होता दिक्खै निर्धन का कल्याण सुणो...

2. पूँजीवादी सिस्टम के म्हं न्याय का ढोंग रचाया जा
ठाढा मारै रोवण दे ना, हीणा रोज़ दबाया जा
जात-धर्म के झगड़े ठा कै आपस म्हं लड़वाया जा
इलैक्शन खात्तर ध्यान पलट दें सीम पै जंग कराया जा
जवान बलि हो बिना बात जब रोवै बाप किसान सुणो...

3. मुनाफ़ा और मुनाफ़ा चाहवैं, ना इनसानी नाता है
क़ुदरत के जो संसाधन सब ताक़तवर हथियाता है
चरित्र लम्पट हो सबका वो, ऐसा पाठ पढ़ाता है
कमेरा भूखा मरता देखो, लुटेरा मौज उड़ाता है
या बेड़ी हम नै पड़ै काटणी, बूढ़े और जवान सुणो...

4. समाजवाद जै कायम होज्या, ढंग बदल ज्या जीणे का
ख़ून चूसती जौंक बचैं ना, शोषण हो ना हीणे का
गोदाम किते भी सडैं नहीं, हो प्रबन्ध खाणे-पीणे का
धर्म का झगड़ा मिट ज्या सारा अयोध्या और मदीणे का
"रामधारी" की कलम लिखे जा क्रान्तिकारी गान सुणो...

(शब्दार्थ :- राज्जी - ख़ुश, ठाढा - ताक़तवर, हीणा - कमजोर)

– प्रस्तुति - **अरविन्द**

उद्योगपतियों को खरबों की सौगात देने वाली झारखण्ड सरकार को ग़रीब कुपोषित बच्चों को पौष्टिक भोजन देना "महँगा" लग रहा है!

झारखंड सरकार ने मिडडे मील के तहत बच्चों को मिलने वाले अंडों में कटौती करते हुए इसे हफ्ते में तीन से दो करने का फैसला किया है। सरकार ने कहा है कि हर दिन बच्चों को अंडा खिलाना सरकार को "महँगा" पड़ रहा है।

बाकी औने पौने दाम पर खनिज संपदाओं, जंगलों को अपने कॉर्पोरेट मित्रों को बेचना सरकार को "महँगा" नहीं पड़ता। गौरतलब है झारखंड देश के सबसे कुपोषित राज्यों में से एक है और झारखंड के कुल 62% बच्चे कुपोषण के शिकार हैं। कुल कुपोषित बच्चों में से 47% बच्चों में stunting यानी उम्र की अनुपात में औसत से कम लंबाई पाई गई है जो कि कुपोषण की वजह से शरीर पर पड़ने वाले स्थाई प्रभावों में से एक है।

ध्यान रहे कि मिडडे मील योजना का लक्ष्य बच्चों के लिए ज़रूरी कैलोरी के एक तिहाई हिस्से व ज़रूरी प्रोटीन के 50% हिस्से की आपूर्ति सुनिश्चित करना था। अंडे में मौजूद एल्ब्यूमिन प्रोटीन, "प्रोटीन ऊर्जा कुपोषण" से पीड़ित बच्चों के लिए गुणात्मक रूप से प्रोटीन का सर्वोत्तम स्रोत है और मिडडे मील में हर बच्चे को रोज़ाना एक अंडा सुनिश्चित करके कुपोषण के इन भयानक आंकड़ों में कई गुना तक सुधार लाया जा सकता है। लेकिन खनिज व प्राकृतिक संपदाओं से भरपूर झारखंड की सरकार के लिए इन संपदाओं को चवन्नी के भाव कॉर्पोरेट घरानों को बेचना कभी भी "महँगा" सौदा महसूस नहीं हुआ। 7% की दर से "विकास" का दावा ठोंकती रघुबर सरकार के पास अपने इस "विकास" का एक छोटा सा हिस्सा इस राज्य में विकराल मुंह बाए खड़े कुपोषण रूपी राक्षस से लड़ने हेतु भी खर्चने को नहीं है।

"भात भात" कहते हुए मर गई संतोषी को सख्त हिदायत है कि जितना मिल रहा है, उतने में ही "संतोष" करो और अपनी हड्डियों का पाउडर बनाकर इस पूँजीवादी व्यवस्था के मुनाफे के लिए पेश होते रहो । वरना तुम्हें "देशद्रोही", "नक्सली" करार दिया जाएगा।

– **पावेल पाराशर**

"बुर्जुआ अख़बार पूँजी की विशाल राशियों के दम पर चलते हैं। मज़दूरों के अख़बार ख़ुद मज़दूरों द्वारा इकट्ठा किये गये पैसे से चलते हैं।" - **लेनिन**

'मज़दूर बिगुल' मज़दूरों का अपना अख़बार है।

यह आपकी नियमित आर्थिक मदद के बिना नहीं चल सकता।
बिगुल के लिए सहयोग भेजिये/जुटाइये।
सहयोग कूपन मँगाने के लिए मज़दूर बिगुल कार्यालय को लिखिये।

पूँजीपतियों के पास दर्जनों अख़बार और टीवी चैनल हैं।
मज़दूरों के पास है उनकी आवाज़ 'मज़दूर बिगुल'!
इसे हर मज़दूर के पास पहुँचाने में हमारा साथ दें।

मज़दूर बिगुल के लिए अपने कारख़ाने, दफ़्तर या बस्ती की रिपोर्टें, लेख, पत्र या सुझाव आप इन तरीक़ों से भेज सकते हैं:

डाक से भेजने का पता: **मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना, डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020**

ईमेल से भेजने का पता: **bigulakhbar@gmail.com**

मज़दूर बिगुल की वेबसाइट
www.mazdoorbigul.net

इस वेबसाइट पर दिसम्बर 2007 से अब तक बिगुल के सभी अंक क्रमवार, उससे पहले के कुछ अंकों की सामग्री तथा राहुल फ़ाउण्डेशन से प्रकाशित सभी बिगुल पुस्तिकाएँ उपलब्ध हैं। बिगुल के प्रवेशांक से लेकर नवम्बर 2007 तक के सभी अंक भी वेबसाइट पर क्रमशः उपलब्ध कराये जा रहे हैं। मज़दूर बिगुल का हर नया अंक प्रकाशित होते ही वेबसाइट पर निःशुल्क पढ़ा जा सकता है।

आप इस फ़ेसबुक पेज के ज़रिये भी 'मज़दूर बिगुल' से जुड़ सकते हैं :
www.facebook.com/MazdoorBigul

'मज़दूर बिगुल' का स्वरूप, उद्देश्य और ज़िम्मेदारियाँ

1. 'मज़दूर बिगुल' व्यापक मेहनतकश आबादी के बीच क्रान्तिकारी राजनीतिक शिक्षक और प्रचारक का काम करेगा। यह मज़दूरों के बीच क्रान्तिकारी वैज्ञानिक विचारधारा का प्रचार करेगा और सच्ची सर्वहारा संस्कृति का प्रचार करेगा। यह दुनिया की क्रान्तियों के इतिहास और शिक्षाओं से, अपने देश के वर्ग संघर्षों और मज़दूर आन्दोलन के इतिहास और सबक़ से मज़दूर वर्ग को परिचित करायेगा तथा तमाम पूँजीवादी अफ़वाहों-कुप्रचारों का भण्डाफोड़ करेगा।

2. 'मज़दूर बिगुल' भारतीय क्रान्ति के स्वरूप, रास्ते और समस्याओं के बारे में क्रान्तिकारी कम्युनिस्टों के बीच जारी बहसों को नियमित रूप से छापेगा और 'बिगुल' देश और दुनिया की राजनीतिक घटनाओं और आर्थिक स्थितियों के सही विश्लेषण से मज़दूर वर्ग को शिक्षित करने का काम करेगा।

3. 'मज़दूर बिगुल' स्वयं ऐसी बहसें लगातार चलायेगा ताकि मज़दूरों की राजनीतिक शिक्षा हो तथा वे सही लाइन की सोच-समझ से लैस होकर क्रान्तिकारी पार्टी के बनने की प्रक्रिया में शामिल हो सकें और व्यवहार में सही लाइन के सत्यापन का आधार तैयार हो।

4. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के बीच राजनीतिक प्रचार और शिक्षा की कार्रवाई चलाते हुए सर्वहारा क्रान्ति के ऐतिहासिक मिशन से उसे परिचित करायेगा, उसे आर्थिक संघर्षों के साथ ही राजनीतिक अधिकारों के लिए भी लड़ना सिखायेगा, दुअन्नी-चवन्नीवादी भूजाछोर "कम्युनिस्टों" और पूँजीवादी पार्टियों के दुमछल्ले या व्यक्तिवादी-अराजकतावादी ट्रेडयूनियनों से आगाह करते हुए उसे हर तरह के अर्थवाद और सुधारवाद से लड़ना सिखायेगा तथा उसे सच्ची क्रान्तिकारी चेतना से लैस करेगा। यह सर्वहारा की क़तारों से क्रान्तिकारी भर्ती के काम में सहयोगी बनेगा।

5. 'मज़दूर बिगुल' मज़दूर वर्ग के क्रान्तिकारी शिक्षक, प्रचारक और आह्वानकर्ता के अतिरिक्त क्रान्तिकारी संगठनकर्ता और आन्दोलनकर्ता की भी भूमिका निभायेगा।

प्रिय पाठको,

बहुत से सदस्यों को 'मज़दूर बिगुल' नियमित भेजा जा रहा है, लेकिन काफ़ी समय से हमें उनकी ओर से न कोई जवाब नहीं मिला और न ही बकाया राशि। आपको बताने की ज़रूरत नहीं कि मज़दूरों का यह अख़बार लगातार आर्थिक समस्या के बीच ही निकालना होता है और इसे जारी रखने के लिए हमें आपके सहयोग की ज़रूरत है। अगर आपको 'मज़दूर बिगुल' का प्रकाशन ज़रूरी लगता है और आप इसके अंक पाते रहना चाहते हैं तो हमारा अनुरोध है कि आप कृपया जल्द से जल्द अपनी सदस्यता राशि भेज दें। आप हमें मनीऑर्डर भेज सकते हैं या सीधे बैंक खाते में जमा करा सकते हैं।

मनीऑर्डर के लिए पता :
मज़दूर बिगुल, द्वारा जनचेतना
डी-68, निरालानगर, लखनऊ-226020
बैंक खाते का विवरण : Mazdoor Bigul
खाता संख्या : 0762002109003787, IFSC: PUNB0076200
पंजाब नेशनल बैंक, निशातगंज शाखा, लखनऊ

सदस्यता : वार्षिक : 70 रुपये (डाकख़र्च सहित); आजीवन : 2000 रुपये

मज़दूर बिगुल के बारे में किसी भी सूचना के लिए आप हमसे इन माध्यमों से सम्पर्क कर सकते हैं :
फ़ोन : 0522-4108495, 9721481546
ईमेल : bigulakhbar@gmail.com
फ़ेसबुक : www.facebook.com/MazdoorBigul

मज़दूर बिगुल

सम्पादकीय कार्यालय	: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 फ़ोन: 8853093555
दिल्ली सम्पर्क	: बी-100, मुकुन्द विहार, करावलनगर, दिल्ली-94, फ़ोन: 011-64623928
ईमेल	: bigulakhbar@gmail.com
मूल्य	: एक प्रति - 5/- रुपये वार्षिक - 70/- रुपये (डाक ख़र्च सहित) आजीवन सदस्यता - 2000/- रुपये

देश-भर में 8-9 जनवरी को हुई आम हड़ताल से मज़दूरों ने क्या पाया?
इस हड़ताल से क्या सबक़ निकलता है?

– सनी सिंह

इस साल भी केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों ने सालाना त्योहार की तरह केन्द्र सरकार की मज़दूर विरोधी नीतियों के ख़िलाफ़ आम हड़ताल की घोषणा की और 8-9 जनवरी को औद्योगिक क्षेत्रों से लेकर सर्विस सेक्टर व यातायात विभाग में काम प्रभावित रहा। केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के ही आकलन के अनुसार कुल मिलाकर 20 करोड़ मज़दूरों ने इस हड़ताल में भागीदारी की। अरुण जेटली ने भी इस हड़ताल के बाद मजबूरन बयान दिया। देश-भर में मज़दूरों को अपनी ताक़त का अहसास हुआ परन्तु इससे पहले कि इस ताक़त से कुछ ठोस हासिल होता मज़दूर वापस फ़ैक्टरियों में जा चुके थे और फिर से शोषण के चक्के में अपना हाड़-माँस गला रहे हैं। तो हम क्या सिर्फ़ इस बात से सन्तोष कर लें कि हड़ताल में इतने मज़दूरों ने भागीदारी की और अपनी ताक़त दिखायी! क्या एक दिन मज़दूरों द्वारा फ़ैक्टरियों के गेट पर लाठी बजाने से, कुछ जगह मालिकों और दलालों की पिटाई और एक बड़ी रैली निकाल लेने से मज़दूर वर्ग और मालिक वर्ग के बीच संघर्ष में कोई निर्णायक अन्तर आयेगा? इस हड़ताल के दौरान ही कई जगह लाठीचार्ज और गिरफ़्तारियाँ भी हुईं, परन्तु कहीं पर भी केन्द्रीय ट्रेड यूनियन के नेतृत्व ने इन गिरफ़्तारियों या मज़दूरों पर हुए लाठीचार्ज के ख़िलाफ़ इस हड़ताल को आगे बढ़ाने या किसी भी क़िस्म के इण्डस्ट्रियल एक्शन का आह्वान नहीं किया। क्या यह सब इसलिए ही नहीं था कि मज़दूर एक दिन अपनी भड़ास निकालें और व्यवस्था विरोधी क़दम न उठायें और दूसरी तरफ़ तमाम केन्द्रीय ट्रेड यूनियन और उनकी आका संसदमार्गी सामाजिक जनवादी पार्टी सुरक्षा पंक्ति के रूप में अपना अस्तित्व बनाये रखें! हमें लगता है कि ये दो दिवसीय हड़ताल इन केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा रस्मी क़वायद है जो मज़दूरों को अर्थवाद के जाल से बाहर नहीं निकलने देने का एक उपक्रम ही साबित होती है। यह अन्ततः मज़दूरों के औज़ार हड़ताल को भी धारहीन बनाने का काम करती है। तो फिर इस हड़ताल के प्रति मज़दूरों का क्या रवैया होना चाहिए? हमारा मानना है कि हमें दो दिवसीय हड़ताल का अनालोचनात्मक समर्थन नहीं करना चाहिए और ना ही इससे दूर रहना चाहिए, बल्कि इस हड़ताल में भागीदारी कर केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा हड़ताल के इस्तेमाल को बेपर्द करने के लिए हमें इसमें जमकर भागीदारी करनी चाहिए। इसमें भागीदारी कर हमें केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के हाथों से नेतृत्व को छिन लेना चाहिए, क्योंकि हड़ताल सरीखे किसी भी एक्शन में अगर ये संशोधनवादी नेता मज़दूरों को नेतृत्व देंगे तो यह मज़दूर आन्दोलन में भी मज़दूरों के नेतृत्व पर अपनी दावेदारी मज़बूत करते हैं।

हमें एक या दो दिन की हड़ताल के ज़रिये सामाजिक जनवादियों द्वारा मज़दूर वर्ग के औज़ार को बेकार करने की साज़िश को बेनकाब करना होगा

क्या इस हड़ताल के बाद राज्य सरकारें तय न्यूनतम वेतन लागू करने लगेंगी? या बढ़े हुए रेट से वेतन मिलने लगेगा? ठेका प्रथा ख़त्म हो जायेगी? फ़ैक्टरियों के हालात सुधार जायेंगे? नहीं! ऐसा नहीं होने वाला है। यह बात हम और आप अपनी ज़िन्दगी के हालात को देखकर अच्छी तरह समझते हैं। ठेका प्रथा का दंश झेल रहे मज़दूरों के एक सशक्त आन्दोलन को खड़ा करने या मज़दूरों के अधिकारों को हासिल करने के लिए कोई प्रोग्राम लेने की बजाय ऐसी ग़द्दार ट्रेड यूनियनें एक दिन की हड़ताल की नौटंकी से मज़दूरों के गुस्से को शान्त करने की क़वायद में जुटी हुई हैं। 1990 में नवउदारवाद और निजीकरण की नीतियों के लागू होने के बाद से केवल दिल्ली राज्य के स्तर पर नहीं बल्कि क़रीब 20 बार देश के स्तर पर 'भारत बन्द', 'आम हड़ताल', 'प्रतिरोध दिवस' का आह्वान ये केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें देती आयी हैं, परन्तु ये अनुष्ठानिक हड़तालें महज़ मज़दूरों के गुस्से के फटने से पहले प्रेशर को कम करने वाले सेफ़्टी वाल्व का काम कर इस व्यवस्था की ही रक्षा करती हैं। वैसे जब मोदी सरकार संसद में बैठकर श्रम क़ानूनों को तोड़ने-मरोड़ने का काम कर रही होती हैं, तब ये यूनियनें चूँ तक नहीं करतीं। तब इनकी शिकायत महज़ यह होती है कि इनसे इस बात की सहमति नहीं ली गयी! मतलब अगर सहमति ली जाती तो मज़दूर विरोधी क़ानूनों को लागू होने में इन्हें कोई परेशानी नहीं थी!

यह हड़ताल किन यूनियनों द्वारा आयोजित करवायी जा रही है? सीटू, एटक, एक्टू से लेकर एचएमएस व अन्य केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के साथ कुछ अराजकतावादी संघाधिपत्यवादी संगठन मज़दूर सहयोग केन्द्र या इंक़लाबी मज़दूर केन्द्र, जो इनकी पूँछ पकड़कर चलते हैं, इस तरह की एक दिन की हड़ताल आयोजित करवाने में अपनी पूरी ताक़त झोंक देते हैं। जहाँ तक केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों की बात है तो इनसे पुछा जाये कि एकदिनी हड़ताल करने

(पेज 4 पर जारी)

नीमराणा में डाइकिन के मज़दूरों पर बर्बर लाठीचार्ज!

8-9 जनवरी की दो दिवसीय देशव्यापी हड़ताल के समर्थन में नीमराणा औद्योगिक क्षेत्र के क़रीब 2000 मज़दूरों द्वारा 'मज़दूर अधिकार रैली' आयोजित की गयी। इस रैली में डाइकिन कम्पनी के मज़दूरों के अलावा होण्डा, टोयोटा, शॉन, टोयडा, नीडेड व नीमराणा की दूसरी अन्य कम्पनियों के मज़दूरों ने भी शिरकत की। यह रैली जब डाइकिन कम्पनी गेट पर पहुँची तो डाइकिन के मज़दूरों ने वहाँ यूनियन का झण्डा लगाना चाहा। लेकिन कम्पनी प्रबन्धन द्वारा बुलाये गये बाउंसरों ने झण्डा उखाड़ दिया। मज़दूरों ने दोबारा झण्डा लगाने की कोशिश की तो वहाँ मौजूद पुलिस उन पर लाठियाँ बरसाने लगी। साथ ही वहाँ मौजूद बाउंसरों ने भी मज़दूरों पर लाठियाँ बरसानी शुरू कर दी। इसके बाद पुलिस की कार्यवाही से गुस्साये मज़दूरों ने पुलिस पर जवाबी पत्थरबाज़ी की। पुलिस ने मज़दूरों पर बेतहाशा लाठीचार्ज किया, आँसू गैस के गोले छोड़े जिसमें 40 से अधिक मज़दूर बुरी तरह से घायल हो गये। पुलिस ने कई मज़दूरों को डण्डों और राइफ़ल के बट से तब तक पीटा जब तक कि वे बेहोश नहीं हो गये। पुलिस ने अपनी इस बर्बर कार्यवाही में डाइकिन यूनियन के अध्यक्ष रुक़मुद्दीन व कुछ अन्य मज़दूरों को विशेष तौर पर टारगेट किया था।

ग़ौरतलब है कि डाइकिन एयर कण्डीशनिंग कम्पनी के मज़दूरों का यूनियन बनाने का संघर्ष पिछले 5 साल से चल रहा है। कम्पनी ने मज़दूरों द्वारा यूनियन बनाने के प्रयास को विफल करने के लिए कई मज़दूरों को या तो काम से निकाल दिया या फिर तबादला कर दिया। आख़िरकार अगस्त 2018 में मज़दूर अपनी यूनियन रजिस्टर करवाने में सफल हो गये। डायकिन के मज़दूरों को यूनियन बनाने की ज़रूरत इसलिए महसूस हुई, क्योंकि कम्पनी मज़दूरों से जबरन ओवरटाइम करवाती है, कम्पनी के अन्दर दुर्घटना होने पर कोई मुआवज़ा नहीं दिया जाता है, किसी प्रकार की छुट्टी प्रदान नहीं की जाती है और काम के मुकाबले में वेतन बहुत कम है।

ठेकाकर्मियों का शोषण तो और भी जबरदस्त है। स्थायीकर्मियों की अपेक्षा उनकी मज़दूरी भी कम है, दूसरा उन्हें जब चाहे निकाल बाहर कर दिया जाता है। डायकिन ही नहीं बल्कि नीमराणा औद्योगिक बेल्ट की लगभग सभी कम्पनियों में मज़दूरों के हालात एक जैसे हैं। सभी कारख़ानों में ज़्यादातर काम ठेकेदारी के तहत करवाया जाता है। किसी भी कारख़ाने में स्थायी मज़दूरों की संख्या तो नाममात्र ही मिलेगी। काम की शिफ़्ट अधिकतर 12-12 घण्टे की रखी जाती है। 8 हज़ार से अधिक मज़दूरी शायद ही किसी कारख़ाने में दी जाती हो! काम के दौरान किसी ठेकाकर्मी का अंग-भंग हो जाये या मौत भी हो जाये तो कोई मुआवज़ा नहीं! जब तक कारख़ानेदारों को ज़रूरत है तब तक काम है, नहीं तो बाहर। ठेका मज़दूरों द्वारा यूनियन बनाना तो दूर की बात, कोई अन्य छोटी-मोटी माँग करते ही अगले दिन से काम से छुट्टी कर दी जाती है!

ऐसी भयंकर परिस्थिति में डायकिन के मज़दूरों ने यूनियन संघर्ष का रास्ता अपनाया। यूनियन बनाने की बात का पता चलते ही कम्पनी ने सभी नेतृत्वकारी मज़दूरों को नौकरी से बर्ख़ास्त कर दिया। लेकिन मज़दूरों ने संघर्ष जारी रखा। पाँच साल के लम्बे संघर्ष के बाद अगस्त 2018 में वे यूनियन को पंजीकृत करवाने में सफल रहे। मगर कम्पनी प्रबन्धन ने यूनियन को मान्यता देने से इनकार कर दिया तथा मज़दूरों को यूनियन का झण्डा लगाने से भी रोक दिया। इसके अलावा कम्पनी ने 15 नेतृत्वकारी मज़दूरों का दूर-दूर के इलाक़ों में ट्रांसफ़र कर दिया। फिर भी डाइकिन के मज़दूरों ने अपना संघर्ष जारी रखा। यूनियन ने ठेका मज़दूरों से एकता स्थापित की तथा कम्पनी के सामने उनके स्थायीकरण की माँग रखी। इन सबके चलते कम्पनी प्रबन्धन और ठेकेदार मज़दूरों से खार खाये हुए थे।

दो दिवसीय हड़ताल के प्रचार-प्रसार हेतु 8 जनवरी को तड़के सुबह 5 बजे के क़रीब जब मज़दूर पर्चे बाँट रहे थे, तब कम्पनी प्रबन्धन व ठेकेदारों ने गुण्डे बुलवाकर उन पर लाठी, रॉड, हॉकी आदि से हमला करवा दिया, जिसमें विजय नाम का एक मज़दूर गम्भीर रूप से घायल हो गया, जिसे अस्पताल में भर्ती कराना पड़ा था। उसके बाद से ही कम्पनी प्रबन्धन व ठेकेदारों ने कम्पनी के अन्दर सैकड़ों बाउंसर बुलवा लिये थे तथा कम्पनी गेट पर सैकड़ों पुलिसकर्मी तैनात कर दिये थे। कम्पनी में स्थानीय भाजपा विधायक मंजीत चौधरी ने भी ठेके ले रखे हैं।

डायकिन कम्पनी के एक मज़दूर ने बताया कि कम्पनी के अन्दर बाउंसर भेजने का काम विधायक मंजीत चौधरी के इशारों पर ही होता है। यही नहीं, मज़दूरों के अन्दर फूट डालने के लिए कम्पनी प्रबन्धन व ठेकेदार कई दिनों से साम्प्रदायिकता का कार्ड भी खेलने की कोशिश कर रहे थे। वे मज़दूरों को यह कहकर बहका रहे थे कि एक मुसलमान को अध्यक्ष बनाकर तुम लोगों ने सही नहीं किया; इसकी वजह से तुम सभी ख़तरे में पड़ सकते हो।

मज़दूरों पर बर्बर लाठीचार्ज की घटना के बाद विधायक महोदय का बयान भी ग़ौर करने लायक़ है। उसने कहा, "किसी भी उपद्रवी को बख़्शा नहीं जायेगा, पुलिस कड़ी से कड़ी कार्यवाही करेगी।" इससे साफ़ ज़ाहिर होता है कि कम्पनी प्रबन्धन का पुलिस व विधायक के साथ किस क़दर गँठजोड़ स्थापित है। एक और ग़ौर करने वाली बात उक्त घटना में मीडिया के रोल के बारे में है। घटना के बाद वायरल हुए वीडियो में साफ़-साफ़ दिख रहा है कि पुलिस बर्बरतापूर्वक मज़दूरों पर लाठियाँ बरसा रही है, लेकिन ज़ी न्यूज के मीडियाकर्मी को वह पिटाई दिखायी नहीं देती है। उल्टे वह कह रहा है कि पत्थरबाजी से पुलिसकर्मी घायल हुए हैं; मज़दूर घायल हुए हैं या नहीं इसकी कोई सूचना नहीं है!

पुलिस का निन्दनीय कृत्य यहीं पर नहीं रुकता है। 8 जनवरी की ही रात में छापेमारी कर 14 मज़दूरों को उनके घरों और कमरों से उठाया गया। पुलिस ने यह काम कम्पनी के ठेकेदारों की मदद से किया। 17 नामजद व 600-700 अज्ञात मज़दूरों के ख़िलाफ़ एफ़आईआर दर्ज की गयी। पुलिस ने उन पर धारा 307 सहित राजकार्य में बाधा डालने, दंगा करने, सरकारी सम्पत्ति की तोड़फोड़ आदि गम्भीर आरोप लगाये हैं।

गिरफ़्तार मज़दूरों को दो दिन बाद 10 जनवरी को कोर्ट में पेश किया गया। कोर्ट में मजिस्ट्रेट ने उनकी जमानत याचिका रद्द कर उन्हें जेल भेजने के आदेश दे दिये। मज़दूरों को गिरफ़्तार कर फ़र्ज़ी मुक़दमे बनाने का यह सिलसिला यहीं नहीं रुका, दो दिन की हड़ताल के बाद जब मज़दूर अपनी शिफ़्ट में काम के लिए कम्पनी पहुँचे तब कुछ और मज़दूरों को पुलिस ने हिरासत में ले लिया तथा उन्हें डराने-धमकाने का काम जारी है।

ऐसे माहौल में पुलिस के झंझट से बचने के लिए मकान-मालिक भी डाइकिन कम्पनी में काम करने वाले मज़दूरों को कमरा ख़ाली करने को कह रहे हैं। डायकिन कम्पनी के एक मज़दूर ने बताया कि मकान-मालिक कह रहा है कि या तो कम्पनी में जाओ या कमरा ख़ाली करो; उधर कम्पनी में जाते ही पुलिस गिरफ़्तार कर रही है। बहरोड़ विधायक बलजीत यादव जोकि विधायक बनने से पहले मज़दूरों व बेरोज़गारों के लिए टेसुएँ बहाया करता था, अब कह रहा है कि मैं कुछ नहीं कर सकता, जाकर श्रम मन्त्री से मिलो।

ऐसे हालात में मज़दूरों के पास अपने घरों को लौट जाने के अलावा कोई चारा नहीं बचता। फिर भी डायकिन यूनियन के मज़दूरों का कहना है कि वे अपना संघर्ष जारी रखेंगे। साथियो, इन विकट परिस्थितियों ने कुछ ऐसे सवाल खड़े किये हैं जिनके जवाब हमें मिलजुल कर तलाशने हैं। आख़िर इतने लम्बे संघर्ष के बाद जो यूनियन बनी, कम्पनी प्रबन्धन उसे मान्यता क्यों नहीं दे रहा है? कौन सी ऐसी ताक़त है जिसके बल पर कम्पनी प्रबन्धन मनमानी पर उतर आया है? पुलिस जब चाहे लाठियाँ बरसा रही है! नेता-विधायक, ठेकेदार, मकान-मालिक, मीडिया सबका रवैया एक जैसा क्यों है? आम मेहनतकश जनता आपके संघर्षो के प्रति उदासीन क्यों है? जनता को तो बलजीत यादव, मंजीत चौधरी सरीखे नेता झूठ-सच कहकर बहकाने में लगे हैं – स्थानीय बेरोज़गारों के बीच यह बात फैलायी जा रही है कि बाहरवाले मज़दूरों की वजह से तुम्हें काम नहीं मिल रहा है! और त्रासदी यह है कि यही वे नेता हैं जिनके लिए राजस्थान विधानसभा के चुनाव में मज़दूर भी प्रचार कर वोट माँग रहे थे?!

– विजय

'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून (बसनेगा) पारित करो अभियान' का अगला पड़ाव

दिल्ली में 3 मार्च 2019 को रामलीला मैदान से संसद मार्ग तक आयोजित होगी 'रोज़गार अधिकार रैली'

देश की राजधानी दिल्ली में आने वाली 3 मार्च को 11 बजे से रोज़गार अधिकार रैली का आयोजन किया जायेगा। दिल्ली, हरियाणा, महाराष्ट्र, बिहार में कार्यरत विभिन्न यूनियनों और जनसंगठनों ने यह फ़ैसला किया है। 'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून (बसनेगा) पारित करो' अभियान के मीडिया प्रभारी योगेश स्वामी ने बताया कि साल 2019 में लोकसभा के चुनाव होने वाले हैं। तमाम चुनावी मदारी जनता के सामने अपने वायदों का पिटारा खोलने वाले हैं। जनता के विभिन्न हिस्से अपनी माँगों को लेकर हुँकार भर रहे हैं। ऐसे में राजधानी दिल्ली की विभिन्न यूनियनों जैसे दिल्ली स्टेट आँगनवाड़ी वर्कर्स एण्ड हेल्पर्स यूनियन, दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन (रजि. संख्या : एफ़/10/डीटीआरयू/एनडब्ल्यूडी/37/14), दिल्ली मेट्रो रेल कॉण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन (रजि. संख्या : एफ़/10/डीआरटीयू/नार्थ ईस्ट/2016/1), दिल्ली घरेलू कामगार यूनियन, बवाना औद्योगिक क्षेत्र मज़दूर यूनियन, नौजवान भारत सभा और दिशा छात्र संगठन की विभिन्न इकाइयों-कमेटियों समेत अन्य जनसंगठनों ने साझे तौर पर यह निर्णय लिया है कि देश की राजधानी दिल्ली में 3 मार्च 2019 को, सुबह 10 बजे, रामलीला मैदान से संसद मार्ग तक 'रोज़गार अधिकार रैली' का आयोजन किया जायेगा। ज्ञात हो कि पिछले साल 25 मार्च 2018 के दिन राजधानी दिल्ली में बसनेगा अभियान के तहत विशाल रोज़गार अधिकार रैली का आयोजन किया जा चुका है।

योगेश ने आगे कहा कि रोज़गार के मसले पर जनता की लामबन्दी आज बेहद ज़रूरी है। तमाम सरकारें सरकारी नौकरियों को निगल रही हैं। नरेन्द्र मोदी के नेतृत्व में भाजपा सरकार जनता को रोज़गार उपलब्ध कराने की ज़िम्मेदारी से पूरी तरह से विमुख हो चुकी है। देश के प्रधानमन्त्री युवाओं को पकौड़े तलने का पाठ पढ़ा रहे हैं! और गन्दे नाले के ऊपर बर्तन रखकर उससे गैस सप्लाई करके चाय बनाने के गुर सिखा रहे हैं! सरकार में बैठे तमाम मन्त्री रोज़गार उपलब्धता के मामले में ऊल-जुलूल बातें बना रहे हैं, किन्तु असल बात यह है कि जनता पर बेरोज़गारी की भयंकर मार पड़ी है। रोज़गार के हालात बद से बदतर होते जा रहे हैं। सेण्टर फ़ॉर मॉनिटरिंग इण्डियन इकॉनोमी (सीएमआई) की ताज़ा रिपोर्ट के अनुसार - साल 2018 में 1 करोड़ 10 लाख लोगों ने अपनी नौकरी गँवाई है! ख़ुद सरकारी आँकड़ों के मुताबिक़ 2007 से 2016 तक देश के 75,000 और 2014 से 2016 के बीच 26,000 छात्र-युवा आत्महत्या कर चुके हैं! इनके पीछे निश्चय ही बेरोज़गारी बड़ा कारण है। रही-सही सरकारी नौकरियों पर सरकारी डाकेजनी जारी है। सरकारी विभागों में लाखों पद ख़ाली पड़े हैं। हर तरफ़ ठेकेदारी प्रथा का बोलबाला है। कुल-मिलाकर सरकारें अपनी ज़िम्मेदारी से मुँह मोड़े हुए हैं।

उन्होंने आगे कहा कि सत्ता में बैठी भाजपा जनता को ग़ैर-ज़रूरी मुद्दों पर बाँटने में कोई कोर-कसर नहीं छोड़ रही है। बिकाऊ मीडिया घराने मन्दिर-मस्जिद, जाति-मज़हब, गाय, लव जेहाद और बहुत से ग़ैर-मुद्दों पर लगातार अहर्निश बेसुरा राग अलापते रहते हैं। तमाम अन्य चुनावी दल भी अपने वोट बैंक की राजनीति के चलते जनता को बरगलाने में लगे हैं। ऐसे नाज़ुक दौर में रोज़गार जैसे बुनियादी सवाल पर बार-बार जनता को अपना मुक्का ठोंकना पड़ेगा। फ़्रांस की जनता का येल्लो वेस्ट मूवमेण्ट (पीली बण्डी अभियान) हमारे सामने एक मिसाल के समान है, जिसमें वहाँ के लोगों ने फ़्रांस की मैक्रोन सरकार के घुटने टिकवा रखे हैं। रोज़गार अधिकार रैली की तैयारियाँ जारी हो चुकी हैं। यूनियनें और जनसंगठन अपने-अपने इलाक़ों में इसे लेकर प्रचार अभियान शुरू कर चुके हैं, जोकि धीरे-धीरे ज़ोर पकड़ रहे हैं। बसनेगा अभियान के साझे माँगपत्रक की प्रमुख पाँच माँगें इस प्रकार हैं :-

1. 'हरेक काम करने योग्य नागरिक को स्थायी रोज़गार एवं सभी को समान और निःशुल्क शिक्षा' के अधिकार को संवैधानिक संशोधन करके मूलभूत अधिकारों में शामिल करो।

2. केन्द्र और राज्यों के स्तर पर जिन भी पदों की परीक्षाएँ हो चुकी हैं, उन पर उत्तीर्ण उम्मीदवारों को तत्काल नियुक्तियाँ दो।

3. केन्द्र और राज्यों के स्तर पर तुरन्त प्रभाव से ज़रूरी परीक्षाएँ आयोजित कराके सभी ख़ाली पदों को जल्द से जल्द भरो।

4. 'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून' पारित करो; गाँव-शहर दोनों के स्तर पर पूरा साल पक्के रोज़गार की गारण्टी दो, रोज़गार न दे पाने की सूरत में सभी को न्यूनतम 10,000 रुपये प्रतिमाह गुज़ारे योग्य बेरोज़गारी भत्ता प्रदान करो।

5. नियमित प्रकृति के कार्य में ठेका प्रथा पर तत्काल रोक लगाओ, नियमित प्रकृति के काम में लगे कर्मचारियों को पक्का करो!

इसके अलावा 'भगतसिंह राष्ट्रीय रोज़गार गारण्टी क़ानून (बसनेगा) पारित करो अभियान' के तहत आयोजित होने वाली 'रोज़गार अधिकार रैली' में जुटने वाली यूनियनें और जनसंगठन अपने-अपने विशिष्ट माँगपत्रक भी सरकार को सौंपेंगे। बसनेगा अभियान के तहत 3 मार्च 2019 को दिल्ली में आयोजित होने वाली रोज़गार अधिकार रैली में शामिल होने के लिए देश-भर की मेहनतकश आबादी का आह्वान किया जा रहा है। ताकि रोज़गार के सवाल पर सरकार को झुकाया जा सके और बसनेगा क़ानून पारित कराया जा सके।

– बिगुल संवाददाता

8-9 जनवरी की आम हड़ताल से मज़दूरों ने क्या पाया?
इस हड़ताल से क्या सबक़ निकलता है?

(पेज 3 से आगे)

वाली इन यूनियनों की आका पार्टियाँ संसद विधानसभा में मज़दूर विरोधी क़ानून पारित होते समय क्यों चुप्पी मारकर बैठी रहती हैं? जब पहले से ही लचर श्रम क़ानूनों को और भी कमज़ोर करने के संशोधन संसद में पारित किये जा रहे होते हैं, तब ये ट्रेड यूनियनें और इनकी राजनीतिक पार्टियाँ कुम्भकर्ण की नींद सोये होते हैं। सोचने की बात है कि सीपीआई और सीपीएम जैसे संसदीय वामपन्थियों समेत सभी चुनावी पार्टियाँ संसद और विधानसभाओं में हमेशा मज़दूर विरोधी नीतियाँ बनाती आयी हैं, तो फिर इनसे जुड़ी ट्रेड यूनियनें मज़दूरों के हक़ों के लिए कैसे लड़ सकती हैं? पश्चिम बंगाल में टाटा का कारख़ाना लगाने के लिए ग़रीब मेहनतकशों का क़त्लेआम हुआ तो सीपीआई व सीपीएम से जुड़ी ट्रेड यूनियनों ने इसके ख़िलाफ़ कोई आवाज़ क्यों नहीं उठायी? जब कांग्रेस और भाजपा की सरकारें मज़दूरों के हक़ों को छीनती हैं तो भारतीय मज़दूर संघ, इण्टक आदि जैसी यूनियनें चुप्पी क्यों साधे रहती हैं? ज़्यादा से ज़्यादा चुनावी पार्टियों से जुड़ी ये ट्रेड यूनियनें इस तरह रस्मी प्रदर्शन या विरोध की नौटंकी ही करती हैं। साथियो, केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें इस व्यवस्था की रक्षक हैं जो इस तरह के प्रदर्शनों से व्यवस्था को संजीवनी प्रदान करती हैं। दूसरी बात यह कि 5 करोड़ संगठित पब्लिक सेक्टर के मज़दूरों की सदस्यता वाली ये यूनियनें इन मज़दूरों के हक़ों को ही सबसे प्रमुखता से उठाती हैं। असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों की माँग इनके माँगपत्रक में निचले पायदान पर जगह पाती है और इस क्षेत्र के मज़दूरों का इस्तेमाल महज़ भीड़ जुटाने के लिए किया जाता है। देश की 51 करोड़ खाँटी मज़दूर आबादी में 84 फ़ीसदी आबादी असंगठित क्षेत्र के मज़दूरों की हैं, परन्तु ये न तो उनके मुद्दे उठाती हैं और न ही उनके बीच इनका कोई आधार है। तीसरी बात अगर यह वाक़ई न्यूनतम वेतन को नयी दर से लागू करवाना चाहती हैं और केन्द्र व राज्य सरकार के मज़दूर विरोधी संशोधनों को सच में वापस करवाने की इच्छुक हैं तो क्या इन्हें इस हड़ताल को अनिश्चितकाल तक नहीं चलाना चाहिए? यानी कि तब तक जब तक सरकार मज़दूरों से किये अपने वादे पूरे नहीं करती और उनकी माँगों के समक्ष झुक नहीं जाती है। मज़दूर इसके लिए तैयार हैं, परन्तु ये यूनियनें ऐसा कभी नहीं करेंगी! रिको से लेकर मारुति के मज़दूरों के संघर्षों में ये लोग क्यों नहीं हड़ताल पर उतरे और 5 करोड़ सदस्यता को काम बन्द करने को क्यों नहीं कहा? वज़ीरपुर के मज़दूरों की 2014 में हुई हड़ताल के समर्थन में इन्होंने हड़ताल क्यों नहीं की? क्योंकि इनका मक़सद मज़दूरों के हक़-अधिकार जीतना नहीं, बल्कि मज़दूरों का गुस्सा हद से ज़्यादा बढ़ने से रोकना है। इनके साथ ही इंक़लाबी मज़दूर केन्द्र और मज़दूर सहयोग केन्द्र जैसे संगठन भी हैं, जो वैसे ख़ुद को क्रान्तिकारी घोषित करते हैं और इन केन्द्रीय यूनियन को दलाल बताते हैं, लेकिन इन एक दिन की हड़तालों में इनकी पूँछ पकड़ कर चलते हैं और रस्म अदायगी में हिस्सेदारी करते हैं। इनके भी इस दोगलेपन को मज़दूरों को समझना चाहिए।

हमारा मानना है कि हड़ताल मज़दूर वर्ग का एक बहुत ताक़तवर हथियार है, जिसका इस्तेमाल बहुत तैयारी और सूझबूझ के साथ किया जाना चाहिए। हड़ताल के नाम पर एक या दो दिन रस्मी क़वायद से इस हथियार की धार ही कुन्द हो सकती है। ऐसी एक दिनी हड़तालें मज़दूरों के गुस्से की आग को शान्त करने के लिए आयोजित की जाती हैं, ताकि कहीं मज़दूर वर्ग के क्रोध की संगठित शक्ति से इस पूँजीवादी व्यवस्था के ढाँचे को ख़तरा न हो।

हम यह देख चुके हैं कि केवल एक दिन या दो दिन की हड़ताल के ज़रिये ये केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें पूँजीवादी व्यवस्था को संजीवनी बूटी देती हैं। परन्तु इस हड़ताल में मज़दूर का सबसे उन्नत हिस्सा भी फ़ैक्टरियों को बन्द करवाने में और हड़ताल के दौरान निकाल रही रैली में शामिल होता है। इसलिए मज़दूर वर्ग के हिरावल को भी इन हड़तालों में शामिल होकर इस हड़ताल का इस्तेमाल केन्द्रीय ट्रेड यूनियन और अराजकता संघाधिपत्यवादी राजनीति का भण्डाफोड़ हेतु करना चाहिए। दिल्ली के इण्डस्ट्रियल इलाक़े वज़ीरपुर में पिछले तीन साल से मज़दूरों की क्रान्तिकारी यूनियन 'दिल्ली इस्पात उद्योग मज़दूर यूनियन' ऐसे सभी एक या दो दिवसीय आह्वानों का भण्डाफोड़ हड़ताल में भागीदारी के बरक्स हड़ताल की रैलियों में पर्चा बाँटकर करती थी, परन्तु यूनियन की प्रत्यक्ष अवस्थिति हड़ताल का विरोध करने की बनती थी। इस साल केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों के आह्वान पर दिल्ली के वज़ीरपुर इलाक़े में हमने केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों से अलग फ़ैक्टरी इलाक़े में हड़ताल की जिसके ज़रिये केन्द्रीय ट्रेड यूनियन को बेहतर ढंग से नंगा किया जा सका। निश्चित ही अलग मज़दूर इलाक़ों और ट्रेड यूनियनों की ताक़त के अनुसार यह हर जगह अलग किस्म से लागू होगा, परन्तु इस अनुभव से भी यही निष्कर्ष निकलता है कि हमें इन संघर्षों में भागीदारी कर मज़दूरों के बीच संशोधनवादी राजनीति को नंगा करना चाहिए और मज़दूरों को इन सामाजिक जनवादियों के नेतृत्व में एक दिन भी अकेले नहीं छोड़ना है। नीमराना में डाइकिन कम्पनी के मज़दूरों ने 8 जनवरी को हड़ताल के समर्थन में रैली निकाली, जिसके बाद डाइकिन कम्पनी गेट पर पुलिस और कम्पनी बाउंसरों ने मज़दूरों पर लाठीचार्ज किया और पत्थरबाजी की। इस घटना के विरोध में तमाम केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों और अपने को केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों का विकल्प बताते परन्तु उनकी पूँछ में कँघा करने वाले अराजकतावादी-संघाधिपत्यवादी संगठन 'मज़दूर सहयोग केन्द्र' और 'इंक़लाबी मज़दूर केन्द्र' ने केवल क़ानूनी दाँवपेंच लड़े और अपने को सिर्फ़ ज्ञापन देने और तथ्यान्वेषण टीम तक ही सीमित रखा। अगर इस लाठीचार्ज के विरोध में गुड़गाँव धारूहेड़ा मानेसर से लेकर नीमराना में हज़ारों की सदस्यता वाली केन्द्रीय ट्रेड यूनियनें अनिश्चितकालीन हड़ताल का ऐलान कर देतीं, तो प्रशासन मज़दूरों के ख़िलाफ़ दर्ज किये झूठे मुक़दमे वापस लेता और दोषी पुलिसकर्मियों पर कार्यवाही करता इसकी सम्भावना अधिक थी, परन्तु इस माँग को लेकर केवल आटोमोबाइल इण्डस्ट्रियल काण्ट्रैक्ट वर्कर्स यूनियन अभियान चलाती रही जिसे मज़दूरों में भारी समर्थन मिला, लेकिन किसी भी केन्द्रीय ट्रेड यूनियन ने और 'मज़दूर सहयोग केन्द्र' और 'इंक़लाबी मज़दूर केन्द्र' ने ऐसा आह्वान नहीं दिया। इस घटनाक्रम से भी यह निष्कर्ष निकलता है कि केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा व्यवस्था की सुरक्षा पंक्ति के रूप में अपनी भूमिका निभाने को हमें शिद्दत से बेपर्द करना होगा और इसके लिए हमें केन्द्रीय ट्रेड यूनियनों द्वारा दिये आम हड़ताल के आह्वान में मज़दूर वर्ग का नेतृत्व देकर यह करना होगा, जब तक कि इस राजनीति को मज़दूर आन्दोलन से ख़त्म न किया जा सके। साथ ही इनकी पूँछ पकड़कर मज़दूर आन्दोलन की सवारी करने निकले अराजकतावादी संगठनों की राजनीति की पोल खोलनी होगी।

मेघालय खदान हादसा : अँधेरी गुमनाम सुरंगों की ज़िन्दगी

- अपूर्व मालवीय

अँधेरे में अँधेरे की ओर बढ़ते हुए

13 दिसम्बर 2018 की बेहद ठण्डी सुबह 4 बजे जब अभी घुप्प अँधेरा ही था, साहिब अली और उनके साथ के 21 लोग हाथ में टार्च और ख़ुदाई के औज़ार लेकर 370 फ़ुट गहराई वाली एक खदान में उतरे। यह खदान मेघालय राज्य के पूर्वी जयन्तिया हिल्स ज़िले में है। इस खदान में पूरी तरह खड़ा न हो पाने के बावजूद भी ये 22 लोग एक क़तार में आधा झुके हुए और बैठकर कोयला निकालने और उसको छोटी-छोटी ट्रॉली में लादने का काम शुरू कर चुके थे। ख़ान की इस घुप्प अँधेरी सुरंग में केवल छेनियों, हथौड़ियों और कोयले के पत्थरों के टुकड़ों के गिरने की आवाज़ आ रही थी। साहिब अली और चार अन्य व्यक्तियों का काम कोयले के टुकड़ों को ट्रॉली में लादकर बाहर निकालना था। काम शुरू होने के दो घण्टे बाद ही क़रीब 7 बजे सुरंग में पानी भरने की आवाज़ भी आनी शुरू हो गयी। कोई नहीं जानता था कि यह आवाज़ उनकी मौत की पदचाप है। धीरे-धीरे यह पदचाप और तेज़ होती चली गयी। साहिब अली और उनके चार अन्य साथी बमुश्किल किसी तरह से निकल सके।

पूर्वी जयन्तिया हिल्स ज़िले की इस खदान से 850 किलोमीटर दूर वेस्ट गारो हिल्स के मागुरमारी गाँव से अफ़रोज़ा अपने पति को फ़ोन मिला रही है। लेकिन उसका फ़ोन नहीं मिल रहा है। अफ़रोज़ा की गोद में उसका दूधमूँहा बच्चा है। अफ़रोज़ा नहीं चाहती थी कि उसका पति अब्दुल कलाम गाँव से सैकड़ों किलोमीटर दूर कोयले की खदान में काम करे। क्योंकि जब भी वह अपने अपाहिज देवर अब्दुल करीम को देखती है, भविष्य के प्रति आशंका से भर जाती है। दो साल पहले उसका देवर भी इसी तरह की खदान में काम करता था। एक दिन उसके ऊपर पत्थरों की दीवार गिर गयी और रीढ़ की हड्डी टूट गयी। तभी से वह घर पर व्हीलचेयर पर है। पत्नी अफ़रोज़ा के विरोध के बावजूद अब्दुल कलाम खदान में काम करने चला गया। क्योंकि खेती घाटे का सौदा है। मागुरमारी में दिहाड़ी ढाई सौ से तीन सौ ही मिलती है। ऐसे में एक परिवार को चला पाना जिसमें पत्नी, बूढ़े माँ-बाप, बच्चे और अपाहिज भाई हो, बेहद मुश्किल है। बढ़िया रोज़गार और अच्छी कमाई का लालच देकर माइनिंग सरदार गाँव के छ: अन्य आदमियों के साथ अब्दुल कलाम को भी लेता गया। अब्दुल कलाम और मारगुमारी गाँव के अन्य लोग 13 दिसम्बर के इस खदान हादसे का शिकार हो चुके हैं। 13 दिसम्बर की दोपहर तक जब यह ख़बर गाँव में पहुँची कि खदान में हादसा हो गया है, तबसे गाँव के कई घरों में मातम का माहौल है।

पूर्वी जयन्तिया हिल्स के इस खदान हादसे की ख़बर जबसे मुख्यधारा की मीडिया में आयी है, तभी से पूरा सरकारी और प्रशासनिक अमला सक्रिय हो गया है। मज़दूरों की ज़िन्दगी से सरोकार दिखाने की नौटंकी वे कम्पनियाँ भी करने लगी हैं, जो मज़दूरों का शोषण-उत्पीड़न करने में दूसरी कम्पनियों से क़तई पीछे नहीं हैं। मुख्यधारा में यह ख़बर आने के बाद जिस मुस्तैदी का परिचय मेघालय और केन्द्र की सरकार दे रही है, अगर उसको समय रहते किया जाता तो शायद उन मज़दूरों को बचाया जा सकता था। "इस हादसे के एक महीने बाद मेघालय की सरोकारी राज्य सरकार ने मज़दूरों की मौत की क़ीमत लगा ली है और मज़दूरों के परिवार वालों को एक-एक लाख रुपये का मुआवज़ा तय कर दिया है"।

मेघालय की इन 'रैट होल' खदानों पर एनजीटी (नेशनल ग्रीन ट्रिब्यूनल) ने 2014 में प्रतिबन्ध लगा दिया था। एनजीटी ने उन सभी खदानों पर जिसमें अवैज्ञानिक तरीक़े से और बिना किसी सुरक्षा के खनन होता है, प्रतिबन्ध लगा दिया था। यह प्रतिबन्ध असम दिमासा छात्रसंघ और दीमा हसओ समिति की तरफ़ से दायर याचिका पर सुनवाई करते हुए लगाया था, जिसमें यह बताया गया था कि रैट होल खनन में कोपिली नदी (मेघालय और असम से होकर बहती है) को अम्लीय बना दिया है।

बहुत पुरानी हैं खदान मज़दूरों की तक़लीफ़ें

भारत में खदान मज़दूरों की मौतों और दुर्घटनाओं का सिलसिला 220 वर्ष पुराना है, जब अंग्रेज़ों ने खदानों की ख़ुदाई शुरू की। बेहद कठिन परिस्थियों में काम करते हुए और बिना किसी आर्थिक-सामाजिक सुरक्षा के 150 वर्ष बिताने के बाद 1970 के दशक में भारत सरकार ने खदानों का राष्ट्रीयकरण कर दिया। बावजूद इसके खदान मज़दूरों की ज़िन्दगी में कोई व्यापक बदलाव नहीं आया। भारत सहित तीसरी दुनिया और विकसित पूँजीवादी मुल्कों में भी खदान मज़दूरों की स्थिति कमोबेश एक जैसी ही रही है। छोटे-बड़े हादसों और मौतों की तो कोई गिनती नहीं है। लेकिन इसके बावजूद कुछ बड़े हादसों ने मालिकों और सरकारों को मजबूर किया कि वे खदान मज़दूरों की सुरक्षा को लेकर कुछ क़ानून बनायें।

अवैध खदानों में ज़िन्दगी की कोई वैधता नहीं और कभी-कभी आदमी की काग़ज़ी अवैधता भी ज़िन्दगी की वैधता को ख़त्म कर देती है।

मेघालय में खदानों की स्थिति कुछ दूसरी ही है। यहाँ खुले में कोयले का खनन सम्भव नहीं है, क्योंकि इसकी परत दो मीटर से भी पतली है। तकनीक का इस्तेमाल बहुत महँगा है। लिहाज़ा इस तरह की खदानों में खनन का कार्य एक लम्बी संकीर्ण सुरंग के ज़रिये किया जाता है जैसे 'रैट होल' (चूहे का बिल) खनन कहते हैं। इन खदानों में अधिकतर बच्चे काम करते हैं, क्योंकि ये खदानें बमुश्किल 3 से 4 फ़िट ही ऊँची होती हैं और एकबार में एक ही व्यक्ति के घुसने लायक़ जगह होती है।

मेघालय में 19वीं शताब्दी के मध्य में कोयला खनन शुरू हुआ। शुरुआती दौर में उन कोयलों का इस्तेमाल ईंधन

(पेज 12 पर जारी)

भारत के कुछ बड़े खदान हादसे

वर्ष	स्थान	हादसे में मौतों की संख्या
1958	चिनकुरी कोयला खदान हादसा	300 की मौत
1965	ढोरी कायेलरी विस्फोट	268 मज़दूर
1975	धनबाद की चासनाला कोयला खदान में पानी भरने से	372 की मौत
1994	न्यूकेण्ड कोयला खदान में आग लगने से (बिहार)	55 की मौत
1995	गजलीटाण्ड कोयलरी खदान, झरिया में कटरी नदी का पानी घुसने से	64 की मौत
1999	प्रासकोल खदान दुर्घटना	6 की मौत
2000	कवाड़ी खदान	10 की मौत
2001	बागडीगी खदान	29 की मौत
2003	गोदावरी खनी	17 की मौत
2015	झारखण्ड के सेण्ट्रल सौंदा में पानी घुसने से	14 की मौत

कार्यस्थल पर मज़दूरों की मौतें : औद्योगिक दुर्घटनाएँ या मुनाफ़ाकेन्द्रित व्यवस्था के हाथों क्रूर हत्याएँ

- वृषाली

हाल-फ़िलहाल देश में कई औद्योगिक हादसे सामने आये हैं। इन हादसों ने दिखा दिया है कि मुनाफ़ाखोर व्यवस्था के लिए मज़दूरों की जान की क़ीमत क्या हो सकती है। सबसे ताज़ा उदाहरण है इस साल की 3 जनवरी को मोती नगर, दिल्ली के एक पंखा बनाने वाले कारख़ाने में कम्प्रेसर फटने से 7 मज़दूरों की मौत। मोती नगर के उसी इलाक़े में पहले भी कई हादसे हो चुके हैं, लेकिन न तो मज़दूरों की सुरक्षा का कोई इन्तज़ाम है और न ही सरकार के कानों पर कोई जूँ ही रेंगी है। मेघालय के कोयला खदान में फँसे 15 मज़दूरों की 13 दिसम्बर से अब तक कोई ख़बर तक नहीं है। जिस खदान में ये मज़दूर फँसे हैं वह ग़ैर-क़ानूनी है और बचाव दल को बुलाने में काफ़ी देर की गयी है। ज़ाहिर है, इस बार भी इसका ख़ामियाज़ा मज़दूर अपनी जान गँवाकर ही भुगतेंगे, जिसकी कि सम्भावना है। खदानों में 2015 से 2017 के बीच मरने वाले मज़दूरों की संख्या 377 है, औसतन 128 प्रति वर्ष। पिछले साल 10 अक्टूबर को लुधियाना के कलियान गंज में 4 मज़दूर फ़ैक्टरी में आग लगने से जान गँवा बैठे। मालिक ने फ़ैक्टरी के दोनों दरवाज़ों पर बाहर से ताला लगा रखा था। 8 अक्टूबर को छत्तीसगढ़ के भिलाई प्लाण्ट में आग लगने से 11 मज़दूरों की मौत हो गयी और 12 घायल हो गये। 20 जनवरी को बवाना, दिल्ली में ग़ैर-क़ानूनी तरीक़े से चल रहे कारख़ाने में आग लगने की वजह से 17 मज़दूरों की जान चली गयी। कारख़ाने को ग़लत तरीक़े से बाहर से बन्द किया गया था, जिसके कारण मज़दूर अन्दर ही फँसे रह गये। ये चन्द घटनाएँ कोई औद्योगिक दुर्घटना नहीं वरन मुनाफ़ाखोर पूँजीवादी व्यवस्था द्वारा बेहद निर्मम और ठण्डे तरीक़े से की गयी हत्याएँ हैं। जिस देश के हुक्मरानों के माथे पर भोपास गैस काण्ड का दाग़ हो, जिसमें हज़ारों लोग मारे गये और कई पीढ़ियों की ज़िन्दगी नरक हो गयी और जिन्हें आज तक न्याय नहीं मिला, उन हुक्मरानों से हम क्या ही उम्मीद करें?

सभी प्रमुख अख़बारों में छपी ब्रिटिश सुरक्षा परिषद की हाल की एक रिपोर्ट के मुताबिक़ देश में हर वर्ष तक़रीबन 48,000 मज़दूरों की कार्यस्थल पर मौत हो जाती है। इनमें सबसे ज़्यादा हादसे 24.20% भवन निर्माण सेक्टर में होते हैं। इस सेक्टर में औसतन रोज़ाना 38 दुर्घटनाएँ होती हैं। दुर्घटनाओं के प्रमुख कारण ऊँचाई से गिरना है, जबकि बिजली का झटका लगना या मलबे के नीचे दब जाना अन्य कारण हैं। ज़ाहिर है कार्यस्थल पर सुरक्षा के कोई पुख्ता इन्तज़ाम नहीं होते और श्रम विभाग तो जैसे कारख़ाना मालिकों के लिए ही खोला गया है! निर्माण क्षेत्र में काम के दौरान मज़दूरों को आवश्यकतानुसार 'सेफ़्टी नेट', 'बेल्ट' इत्यादि चीज़ें मुहैया करवायी जानी चाहिए, किन्तु ये चीज़ें उपलब्ध नहीं करवायी जाती हैं। 2017 में आयी एनडीटीवी की एक रिपोर्ट देश भर में ऊँची-ऊँची इमारतों के नीचे दबी मज़दूरों की इन लाशों की कहानियाँ बख़ूबी उजागर करती है। 16 मार्च, 2015 में लोकसभा में दिये गये एक जवाब के अनुसार 2012 से 2015 के बीच भवन निर्माण क्षेत्र में कुल 77 मौतें दर्ज की गयी हैं। हालाँकि एक आरटीआई के अनुसार 2013-2016 के बीच 17 राज्यों के 24 शहरों में मज़दूरों की मौतों की संख्या 452 और ज़ख़्मियों की संख्या 212 बतायी गयी। लेकिन उसी दौरान कुछ बड़े शहरों में पुलिस के पास ऐसी ही घटनाओं की दर्ज संख्या में 1092 की मौत होना और 377 का घायल होना पाया गया। मतलब असल स्थिति कितनी भयावह हो सकती है क्योंकि बहुत सारे मामले तो पहले ही रफ़ा-दफ़ा कर दिये जाते हैं! सफ़ाई कर्मचारियों की 2010 से 2017 तक 356 मौतें दर्ज की गयी हैं, औसतन 44 प्रति वर्ष। 2017 में अकेले सितम्बर तक 90 सफ़ाई कर्मचारी अपनी जान गँवा चुके थे। पुराने तरीक़ों से गटर में उतरकर उनकी सफ़ाई करने वाले इन कर्मचारियों को 'स्किल इण्डिया' और 'विकास' से कोसों दूर रखा गया है। लगभग 90 फ़ीसदी कर्मचारी बिना किसी सुरक्षा इन्तज़ाम के ज़हरीली गैसों और गन्दगी में उतरकर सफ़ाई करने के लिए मजबूर हैं। इस्पात उद्योगों में हर साल 50 मौतें दर्ज की जाती हैं। पिछले साल के लोकसभा सत्र में दिये गये जवाब के अनुसार इस्पात उद्योग के 14 सरकारी कारख़ानों में 2017 में 16 बड़ी और 42 छोटी दुर्घटनाएँ दर्ज की गयीं। दिल्ली के वज़ीरपुर और मायापुरी जैसे इसी क्षेत्र के असंगठित और ग़ैर क़ानूनी छोटे-बड़े कारख़ानों में हुई दुर्घटनाओं को जोड़ दिया जाये तो संख्या न जाने कितनी हो जायेगी। इण्डियन एक्सप्रेस की एक ख़बर के अनुसार देश की राजधानी दिल्ली की चमकती-दमकती मेट्रो के निर्माण के दौरान 2002-2017 के बीच 156 मौतें हुई हैं और 103 ज़ख़्मी हुए हैं। हर क्षेत्र के अगर हम आँकड़े गिनेंगे तो पन्ने कम पड़ जायेंगे! देश भर में दर्ज औद्योगिक और मशीनी दुर्घटनाओं का सबसे बड़ा केन्द्र है 'गुजरात मॉडल'। 2014 की एक रिपोर्ट के अनुसार 2014 में ऐसे कुल 797 मामले दर्ज किये गये थे जिनमें गुजरात 97 मौतों के साथ शीर्ष पर था और उसके बाद 84 की संख्या के साथ राजस्थान, 82 की संख्या के साथ मध्य प्रदेश और 73 की संख्या के साथ महाराष्ट्र। कहना नहीं होगा कि मज़दूरों के लिए यह देश एक बड़े क़ब्रगाह में तब्दील हो चुका है!

अब अगर औद्योगिक दुर्घटनाओं से जुड़े क़ानूनों पर नज़र डाली जाये तो साफ़ पता चलता है कि दोषी मालिकों को कोई ख़ास जुर्माना नहीं भरना पड़ता है। और श्रम विभाग के दफ़्तरों में पसरा शमशानी सन्नाटा इस बात का गवाह है कि इसमें कार्यरत ज़्यादातर कर्मचारियों-अधिकारियों के लिए मज़दूरों की मौत महज़ एक तथ्य भर है। ज़्यादातर मामलों में पुलिस द्वारा धारा 287 के तहत मामला दर्ज किया जाता है, जिसमें 6 महीने की जेल अथवा 1000 रुपये का दण्ड या दोनों का प्रावधान है। ज़्यादा से ज़्यादा धारा 304(ए) के तहत दोषी व्यक्ति को 2 साल की जेल हो सकती है। इसके तहत भी जमानत दिये जाने योग्य अपराध दर्ज होते हैं। पिछले साल फ़रवरी की इण्डियन एक्सप्रेस की एक ख़बर के अनुसार अकेले मुम्बई में 8,142 मसले लेबर कोर्ट में आज तक अटके हुए हैं, इनमें से 122 मसले पिछले 10 सालों से चल रहे हैं।

ऊपर दिये गये आँकड़े तो वे हैं जो दर्ज किये गये हैं। देश की 85 फ़ीसदी कामगार आबादी तो असंगठित क्षेत्र में काम करती है। उस 85 फ़ीसदी आबादी के लिए न कोई श्रम-क़ानून है और न ही उनकी 'हत्या' के क़िस्से इस मुनाफ़ाखोर समाज के काले इतिहास में दर्ज ही होते हैं। दिल्ली के वज़ीरपुर और मायापुरी जैसे इलाक़ों में आये दिन मज़दूर अपनी उँगलियों से लेकर जान तक गँवाते हैं। हर क्षेत्र में मज़दूरों की जान की क़ीमत उतनी ही कम है। ज़्यादातर मसलों में दुर्घटना के बाद मालिक मज़दूर को

(पेज 12 पर जारी)

लखनऊ का तालकटोरा औद्योगिक क्षेत्र जहाँ कोई नहीं जानता कि श्रम क़ानून किस चिड़िया का नाम है

हज़ारों मज़दूर बेहद ख़राब स्थितियों में बिना किसी सामाजिक सुरक्षा के काम करते हैं

उत्तर प्रदेश की राजधानी लखनऊ वैसे तो औद्योगिक केन्द्र के रूप में नहीं जानी जाती, लेकिन ज़्यादातर लोगों को जानकर हैरानी होगी कि यहाँ हज़ारों छोटी-बड़ी औद्योगिक इकाइयाँ हैं, जिनमें लाखों मज़दूर काम करते हैं। सबसे बड़ी संख्या चिकन उद्योग में लगी है, जिसमें क़रीब 2 लाख लोग (जिनमें अधिकतर स्त्रियाँ हैं) काम करते हैं। लेकिन यहाँ मैन्युफ़ैक्चरिंग उद्योग में भी बड़ी संख्या में मज़दूर काम करते हैं। लखनऊ के पाँच बड़े औद्योगिक क्षेत्रों - चिनहट, सरोजिनी नगर, तालकटोरा, अमौसी और कुर्सी रोड में से तालकटोरा औद्योगिक क्षेत्र लघु एवं मध्यम उद्योग इकाइयों वाला क्षेत्र है, जहाँ सौ से ज़्यादा कारख़ाने स्थित हैं। लगभग पचास एकड़ में फैले इन कारख़ानों में प्लाईवुड, क्रॉकरी, सरिया, मोमबत्ती, फ़ार्मास्यूटिकल, गत्ते के डिब्बे, प्लास्टिक का सामान, जिम की मशीनें, गुटखा, इलेक्ट्रॉनिक और बिजली के सामान, ऑटोमोबाइल और रेल के पार्ट्स, ब्रेड और विभिन्न खाद्य पदार्थ बनाने सहित तरह-तरह के काम होते हैं।

प्लाईवुड, इंजीनियरिंग, बिजली के उपकरण आदि की कुछ बड़ी फ़ैक्टरियों की कई इकाइयों में 500 से लेकर 1500 मज़दूर तक काम करते हैं। इनके अलावा अनेक छोटी फ़ैक्टरियाँ हैं जिनमें 5 से लेकर 100 मज़दूर हैं। कुछ फ़ैक्टरियाँ ऐसी भी हैं जिसमें बाहर से ताला लगा दिखता है लेकिन अन्दर मज़दूर काम करते हैं। ऐसी फ़ैक्टरियाँ बिना रजिस्ट्रेशन के पुलिस से मिलीभगत करके चलती हैं। वैसे भी ज़्यादातर फ़ैक्टरियों के बाहर न तो कोई नाम है, न ही साइनबोर्ड।

इतने बड़े औद्योगिक क्षेत्र में कहीं भी बुनियादी श्रम क़ानून लागू नहीं होते। पूरे इलाक़े में काम करने वाले मज़दूरों में बमुश्किल 5-7 प्रतिशत ही स्थायी हैं, बाक़ी सब ठेके या दिहाड़ी पर काम करते हैं। एक-दो कम्पनियों के स्थायी मज़दूरों को ही पी.एफ़. और ईएसआई की सुविधा मिलती है और उनके काम के घण्टे तय हैं। बाक़ी लगभग सभी जगह न तो न्यूनतम मज़दूरी (जोकि उत्तर प्रदेश में पहले ही बहुत कम है) मिलती है और न ही कोई अन्य सुविधा। उनके काम का समय 9-10 से लेकर 12-14 घण्टे तक होता है और कहीं भी डबल रेट से ओवरटाइम नहीं मिलता। अधिकतर फ़ैक्टरियों में 12-12 घण्टे की दो शिफ्टों में काम होता है, जिसकी दैनिक मज़दूरी 250-300 रुपये है। स्त्री मज़दूरों को तो केवल 200 रुपये ही मिलते हैं। कुछ फ़ैक्टरियों में 8-8 घण्टे की तीन शिफ्ट हैं जिसकी दैनिक मज़दूरी 120-150 रुपये है। कुछ मज़दूरों को साप्ताहिक और मासिक वेतन भी मिलता है, पर उसकी दर भी इसी के अनुसार रहती है। पूरे औद्योगिक क्षेत्र में स्त्री मज़दूर लगभग 5 प्रतिशत हैं, जिन्हें पुरुष मज़दूरों के मुक़ाबले बहुत कम वेतन मिलता है।

ठेके पर काम करने वाले मज़दूर सीतापुर, बाराबंकी, रायबरेली, गोंडा, लखीमपुर और लखनऊ के आसपास के क्षेत्रों से आते हैं। बिहार के भी काफ़ी मज़दूर यहाँ हैं। इस क्षेत्र में दो तरह के ठेके चलते हैं, एक ठेकेदार द्वारा रखे गये मज़दूर हैं, जिन्हें वेतन के अलावा ठेकेदार दोनों टाइम का खाना भी देता है, दूसरा फ़ैक्टरी मालिक के मुंशी द्वारा ठेके पर रखे गये मज़दूर, जिन्हें सिर्फ़ वेतन मिलता है। फ़ैक्टरी मालिकों के पास मज़दूरों का कोई रिकॉर्ड नहीं होता है और न ही मज़दूरों को कोई सैलरी स्लिप मिलती है।

सुरक्षा के बुनियादी इन्तज़ाम भी नहीं होने के कारण आये दिन यहाँ दुर्घटनाएँ होती रहती हैं। प्लाई के कारख़ानों में हाथ-पाँव कटने जैसी चोटें अक्सर होती हैं। केमिकल और प्लास्टिक के कारख़ानों में जलने, तेज़ाब से झुलसने, आँखों को नुक़सान पहुँचने आदि घटनाएँ भी होती रहती हैं। इसके अलावा करेंट लगने, सामान या मशीन गिरने आदि से भी मज़दूर घायल हो जाते हैं। लेकिन इलाज की कोई समुचित व्यवस्था नहीं है। जब कभी कोई दुर्घटना होती है तो फ़ैक्टरी मालिक सिर्फ़ प्राथमिक उपचार कराकर मज़दूरों को घर भेज देते हैं। बॉयलर इंसपेक्टर कभी जाँच के लिए नहीं आता है। बॉयलर फटने से 2011 में एक फ़ैक्टरी में लगभग 30-35 मज़दूरों की जान चली गयी, लेकिन मुआवज़ा केवल 5 लोगों को ही मिला, जिनके परिजन लगातार लम्बे समय तक भाग-दौड़ करते रहे। मज़दूर बताते हैं कि बाक़ी का मामला पुलिस से मिलकर रफ़ा-दफ़ा कर दिया गया। लखनऊ में नेताओं के खाँसी-ज़ुकाम की भी फ़ोटो सहित ख़बरें छापने वाले अख़बार और टीवी चैनलों के लिए मज़दूरों के जानलेवा हालात और उनके साथ होने वाला खुला अन्याय कभी कोई ख़बर नहीं बनता।

मालिकान को मज़दूरों की ज़िन्दगी की कोई परवाह नहीं है, उन्हें सिर्फ़ अपने मुनाफ़े से मतलब है। अधिकतर फ़ैक्टरियों में शौचालय तथा पीने के पानी की व्यवस्था भी नहीं है। जहाँ शौचालय बने भी हैं, उनमें ताला लगा रहता है। मज़दूरों को शौच और पानी पीने के लिए बाहर जाना पड़ता है। सुपरवाइज़र और ठेकेदारों की डाँट-डपट और गाली की बौछार हमेशा मज़दूरों पर पड़ती रहती है।

कई कारख़ानों में हाड़तोड़ 12 घण्टे काम करने के बाद अधिकतर मज़दूर फ़ैक्टरी के अन्दर ही सो जाते हैं। सुबह उठकर खाना आदि बनाकर फिर काम शुरू कर देते हैं। कुछ कारख़ानों को छोड़कर मज़दूरों को महीने में एक भी छुट्टी नहीं मिलती। 30 दिन लगातार काम करने के बावजूद अगर आधे दिन की छुट्टी किसी मज़दूर ने ली, तो उसके आधे दिन के पैसे काट लिये जाते हैं। कभी-कभी 12 घण्टे के बाद भी एक से डेढ़ घण्टे अतिरिक्त काम कराया जाता है लेकिन उसके लिए उन्हें कोई अतिरिक्त पैसा नहीं दिया जाता है।

काग़ज़ों पर तमाम श्रम क़ानून होने के बावजूद न तो मज़दूरों को न्यूनतम मज़दूरी मिलती है, न ही जीवन की सुरक्षा के लिए इन्तज़ाम किये जाते हैं। लेबर इंसपेक्टर भी कभी इन फ़ैक्टरियों में जाँच के लिए नहीं आता है। अगर कभी भूले-भटके आ भी गया तो पैसों से उसका मुँह बन्द कर दिया जाता है।

तालकटोरा के इलाक़े में मज़दूरों की कोई यूनियन नहीं है जो मज़दूरों के अधिकारों की बात करे। मज़दूरों की राजनीतिक चेतना काफ़ी पिछड़ी है जिसका फ़ायदा मालिक उठाते हैं। मज़दूरों को बाहरी व्यक्तियों से बातचीत करने की मनाही है। सिक्योरिटी गार्ड, ठेकेदार, सुपरवाइज़र और मैनेजर लगातार मज़दूरों पर नज़र रखते हैं। पिछले वर्ष मई दिवस के अवसर पर बिगुल मज़दूर दस्ता की ओर से इलाक़े में निकाली गयी रैली के तहत जब एक इंजीनियरिंग फ़ैक्टरी के बाहर नुक्कड़ सभा चल रही थी तो फ़ैक्टरी के मैनेजर और गार्ड ही नहीं, बल्कि स्थानीय उद्योग संघ के प्रतिनिधि भी दौड़े चले आये और पूरा ज़ोर लगा दिया कि मज़दूर रैली में शामिल कार्यकर्ताओं से न तो बात करें और न ही उनसे पर्चे-अख़बार आदि लें।

बड़ी संख्या में मज़दूर औद्योगिक क्षेत्र से सटे गढ़ी कनौरा, अम्बेडकरनगर आदि इलाक़ों में किराये के कमरों में रहते हैं। काफ़ी मज़दूर आसपास के इलाक़ों से रोज़ आते-जाते भी हैं। पतली-पतली गलियाँ, छोटे-छोटे घर और गन्दगी भरी नालियाँ, ज़हरीली गैसों से भरी हवा और 12-12 घण्टे काम करके भी न तो पौष्टिक खाना मिलना और न ही आराम की नींद, यही मज़दूरों की ज़िन्दगी है।

ख़ासकर प्लाई, केमिकल, बैटरी, स्क्रैप आदि का काम करने वाले कारख़ानों में भयंकर गर्मी और प्रदूषण होता है जिससे मज़दूरों को कई तरह की बीमारियाँ होती रहती हैं। स्क्रैप फ़ैक्टरी के मज़दूरों की चमड़ी तो पूरी तरह काली हो चुकी है। अक्सर मज़दूरों को चमड़ी से सम्बन्धित बीमारियाँ होती रहती हैं। अधिकतर मज़दूरों को साँस की समस्या है। इलाज के लिए प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र है जहाँ कुछ बेसिक दवाएँ देकर मज़दूरों को टरका दिया जाता है। इसके अलावा कुछ प्राइवेट डॉक्टर हैं जिनके पास जाने का मतलब है अपना ख़ून चुसवाना। गम्भीर बीमारी होने की स्थिति में बड़े अस्पतालों जैसे केजीएमयू, लोहिया, बलरामपुर हास्पिटल जाना पड़ता है जिसका ख़र्च उठाना भी मज़दूरों के लिए भारी पड़ता है और इलाज के लिए छुट्टी नहीं मिलने के चलते दिहाड़ी का भी नुक़सान उठाना पड़ता है।

भारत के प्रदूषित शहरों में लखनऊ दूसरे-तीसरे नम्बर पर आता है जिसमें तालकटोरा सबसे प्रदूषित क्षेत्र है। यहाँ हवा, पानी सब प्रदूषित हैं। तालकटोरा औद्योगिक क्षेत्र में पीएम 2.5 का औसत स्तर 500 से भी ऊपर रहता है जो कि मानक से 8 गुना तक ज़्यादा है। यहाँ कॉर्बन मोनो ऑक्साइड और नाइट्रोजन डाई ऑक्साइड जैसी विषैली गैसों का स्तर मानक स्तर से बहुत ज़्यादा है। इसके प्रभाव में आँखों में जलन की समस्या अक्सर मज़दूरों को होती रहती है। तकनीक के इतने विकास के बावजूद मुनाफ़े की अन्धी हवस और शोषण पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था ने देश की मेहनतकश आबादी की ज़िन्दगी को नर्क से भी बदतर बना दिया है। तालकटोरा का इलाक़ा इस नारकीय ज़िन्दगी का एक उदाहरण है। यहाँ 18 साल से कम उम्र के मज़दूरों से भी काम कराया जाता है। काम की स्थितियाँ नौजवान मज़दूरों को उम्र से पहले ही बूढ़ा कर देती हैं।

इस हालात को बदलने के लिए मज़दूरों को संगठित होना होगा। लेकिन इसके लिए सबसे पहले ज़रूरी है कि उन्हें अपने अधिकारों की जानकारी हो। मज़दूरों की राजनीतिक चेतना को बढ़ाने और उन्हें एकजुट करने की ज़रूरत है। अगर मज़दूर जागरूक और अपने अधिकारों के बारे में सचेत हो जायें तो यहाँ पर मज़दूरों की एक इलाक़ाई यूनियन खड़ी हो सकती है क्योंकि यहाँ के सभी मज़दूरों की समस्याएँ और माँगें एक जैसी ही हैं। जब तक मज़दूर अपने हक़ों को नहीं पहचानेंगे और उनके लिए संघर्ष नहीं करेंगे तब तक उनकी स्थिति नारकीय ही बनी रहेगी।

– रूपा, लालचन्द्र, अनुपम

विज्ञान कांग्रेस में संघी विज्ञान के नमूने

फ़ेक न्यूज़ यानी फ़र्ज़ी ख़बरों और झूठ को सच बनाकर पेश करने का खेल अब व्हाट्सप्प से बाहर निकलकर विज्ञान के गलियारों और विश्वविद्यालयों तक पहुँच चुका है। हालाँकि इसकी शुरुआत काफ़ी पहले ही हो चुकी थी। आपको देश के प्रधान-सेवक का 2014 का वो बयान याद होगा, जिसमें उन्होंने गणेश को सबसे पहली प्लास्टिक सर्जरी का उदाहरण बताया था। नरेन्द्र मोदी के इस बयान के बाद नेताओं और मन्त्रियों के बीच जैसे अवैज्ञानिक और मूर्खतापूर्ण बयान देने की होड़ लग गयी। केन्द्रीय मन्त्री सत्यपाल सिंह का डार्विन के सिद्धान्त को ग़लत बताना, त्रिपुरा के मुख्यमन्त्री बिप्लब देव का महाभारत काल में इण्टरनेट होने का दावा करने का बयान आदि। इन सभी दावे करने के पीछे मंशा केवल एक ही है और वो है मिथ्याओं को वैदिक ज्ञान के रूप में परोसते हुए एक काल्पनिक हिन्दू कीर्तिपूर्ण इतिहास की छद्म रचना। इस पूरी क़वायद से संघ के फ़ासीवादी एजेण्डे को लोगों में आधार प्राप्त होता है। और गोएबेल्स की झूठ को दोहराकर उसे सच साबित करने की नीति से ज़्यादा और कुछ नहीं है। इस साल की शुरुआत में 3 से 7 जनवरी 2019 को पंजाब के जालन्धर की एक निजी यूनिवर्सिटी में आयोजित 106वीं भारतीय विज्ञान कांग्रेस में भी संघी विज्ञान का घोलमट्ठा ही परोसा गया। भारत के वैज्ञानिकों के लिए सबसे शर्मनाक बात यह है कि जब मंच पर विज्ञान के नाम पर अतार्किकता और मूर्खता का प्रदर्शन किया जा रहा था, तो वहाँ मौजूद किसी भी वैज्ञानिक ने उसका प्रतिकार तक नहीं किया।

आन्ध्रा यूनिवर्सिटी के कुलपति, जी. नागेश्वर राव ने महाभारत के कौरवों को भारत में हज़ारों वर्षों से स्टेम सेल पर शोध का नतीजा बताया। राव साहब इतने तक ही नहीं रुके, उन्होंने आगे कहा कि रावण के पास 24 प्रकार के विमान थे और लंका में कई हवाई अड्डे मौजूद थे। उन्होंने तो यह तक दावा किया कि भगवान विष्णु के दशावतार डार्विन के सिद्धान्त को ग़लत साबित करते हैं। लेकिन नागेश्वर राव को भी मात देते हुए तमिलनाडु के एक वैज्ञानिक के.जे. कृष्णन ने एक ही साँस में आइंस्टीन और न्यूटन को ग़लत ठहराते हुए, गुरुत्वाकर्षण तरंगों को "नरेन्द्र मोदी तरंगें" घोषित करने का आह्वान कर डाला। कृष्णन जी का कहना है कि आइंस्टीन और न्यूटन को भौतिकी के बारे में बहुत कम जानकारी थी।

सवाल उठता है कि क्या ऐसे बयान देने वाले लोग सिर्फ़ अपनी अज्ञानता के चलते इतने बड़े मंच से ऐसे बयान देते हैं या फिर क्या हमें इन अवैज्ञानिक मतों को सिर्फ़ हँसी में उड़ा देना चाहिए? दोनों सवालों का जवाब है, नहीं! भारतीय विज्ञान कांग्रेस में जो हुआ वह अपने आपमें कोई अपवाद नहीं है। चारों ओर चाहे स्कूलों में पढ़ाये जाने वाली किताबों में इतिहास को बदलने की बात हो या विज्ञान के नाम पर संघी अविज्ञान और झूठों का प्रचार यह सब संघ के एक बड़े एजेण्डे के भीतर एकदम फिट बैठता है। आज का भारत भुखमरी, बेरोज़गारी, ग़रीबी और बीमारी को लेकर सवाल न करें और अपने आने वाले कल के बारे में न सोचे, इसीलिए उसे एक ऐसे सुनहरे अतीत की तस्वीर दिखायी जाती है, जो कभी थी ही नहीं। एक फन्तासी रची जाती है कि वैदिक काल में जब भारत एक महान हिन्दू राष्ट्र था तब यहाँ अभूतपूर्व वैज्ञानिक उपलब्धियाँ थीं, जो आज इसीलिए नहीं हैं, क्योंकि भारत एक हिन्दुत्ववादी राष्ट्र नहीं है। और अगर हमें आज की सब समस्याओं से निजात पानी है तो हमें उसी अतीत वाले भारत जैसा बनना होगा। इसीलिए रामायण और महाभारत को मिथिकीय महाकाव्यों की जगह वास्तविक इतिहास बताया जाता है। फ़ासीवादियों द्वारा विज्ञान पर हरहमेशा हमले किये गये हैं। नाज़ियों द्वारा 1930 में किताबें जलाना हो या आज के भारतीय फ़ासिस्टों द्वारा भारतीय विज्ञान कांग्रेस जैसे अनुष्ठानों में संघी विज्ञान का प्रचार। लेकिन इतिहास गवाह है कि फ़ासीवादियों को अपने मंसूबों में कभी कामयाबी नहीं मिली है। लेकिन इसके बावजूद भारतीय विज्ञान कांग्रेस में जो संघी विज्ञान फैलाया गया उसके ख़िलाफ़ हर तर्कसंगत नागरिक को सचेत रहना होगा।

– सिमरन

सामान्य वर्ग के आर्थिक रूप से पिछड़ों को दिये गये 10 प्रतिशत आरक्षण के मायने

- इन्द्रजीत

मोदी सरकार की कैबिनेट ने सामान्य वर्ग में आर्थिक रूप से पिछड़ों को 10 प्रतिशत आरक्षण देने का फ़ैसला किया है। सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मन्त्री थावर चन्द गहलौत ने विगत 7 जनवरी को लोकसभा में 124वाँ संविधान संशोधन विधेयक पेश किया। लोकसभा और राज्यसभा में सरकार द्वारा पेश विधेयक पर यानी सामान्य वर्ग को आर्थिक आधार पर 10 फ़ीसदी आरक्षण देने के सवाल पर विपक्ष की भी सहमति दिखी। या कहा जा सकता है कि शीतकालीन सत्र के अन्तिम दूसरे दिन प्रस्तुत इस विधेयक का विरोध करके कौन अपने वोट बैंक से बुराई मोल ले! क्या लेफ़्ट, क्या राइट और क्या सेण्टर सभी दबी ज़ुबान से कुछ भुनभुनाने के अलावा सरकार के सुर में सुर मिला रहे हैं। लोकसभा और राज्यसभा में बिल पारित होने के बाद संविधान में 124वाँ संशोधन सम्पन्न होने की तरफ़ बढ़ा। राष्ट्रपति रामनाथ कोविन्द ने भी संविधान संशोधन को अपनी मंजूरी दे दी है जिसके साथ ही इस विधेयक को क़ानूनी मान्यता मिल गयी। यही नहीं गुजरात सरकार ने तो इसे लागू भी कर दिया है। सामाजिक न्याय एवं अधिकारिता मन्त्रालय इस 10 प्रतिशत आरक्षण के प्रावधानों से जुड़े नियम-क़ायदे प्रस्तुत नहीं कर पाया है। हालाँकि आर्थिक आधार पर दिये गये 10 प्रतिशत आरक्षण के मसले पर उच्चतम न्यायालय में जनहित याचिका दाखिल की जा चुकी है। इस पर उच्चतम न्यायालय का निर्णय आना अभी बाक़ी है।

आरक्षण के जिन्न के राजनीति की बोतल से बाहर आते ही एक नयी बहस ज़ोर पकड़ जाती है। उच्च शिक्षा की दशा और रोज़गार सृजन के हालात सवालों के घेरे से परे चले जाते हैं। आरक्षण के समर्थन और विरोध की बयार बहने लगती है जिसमें साफ़ तौर पर जातिवाद की बू को महसूस किया जा सकता है। जो चीज़ है ही नहीं या फिर लगातार न होने की तरफ़ तेज़ी से बढ़ रही है, उसके नाम पर आरक्षण का झुनझुना लोगों के हाथ में थमा दिया जाता है। लोग उस झुनझुने को बजाने के साथ-साथ एक-दूसरे के सिर पर भी दे मारने को न केवल तैयार हो जाते हैं, बल्कि गाहे-बगाहे मार भी देते हैं। इस बार देश की आम आबादी के बीच मोदी सरकार भ्रम फैलाने में कामयाब होती दिख नहीं रही है, क्योंकि बड़ी आबादी इस बात को समझ रही है कि मोदी सरकार का यह क़दम 2019 के संसदीय चुनाव को ध्यान में रखकर उठाया गया है। साढ़े चार साल में भाजपा ने शिक्षा, चिकित्सा, रोज़गार, महँगाई, भ्रष्टाचार आदि-आदि के नाम पर केवल लफ़्फ़ाज़ी ही की है। चुनावी वायदों के आधार पर रिपोर्ट कार्ड की ख़ूबियाँ गिनाने के लिए सरकार के पास कुछ भी नहीं है। ऐसे में सामान्य वर्ग में खिसकते जनाधार को बचाने का 10 प्रतिशत आरक्षण एक हताशा भरा क़दम ही अधिक दिखायी देता है।

आमतौर पर आरक्षण की राजनीति और ख़ासतौर पर आर्थिक आधार पर दिये गये 10 प्रतिशत आरक्षण को हम विभिन्न पहलुओं से देख सकते हैं। सबसे पहले आरक्षण के नाम पर होने वाली तुष्टिकरण की राजनीति को भी समझना होगा। आरक्षण को सबसे पहले अफ़रमेटिव एक्शन (सत्ता द्वारा की गयी सकारात्मक कार्रवाई) के तौर पर उठाये जाने वाले एक क़दम के तौर देखना होगा। आरक्षण लागू करने का प्रमुख तर्क था सामाजिक रूप से पिछड़ों के प्रतिनिधित्व को सुनिश्चित करना। आज़ादी के 71 साल बाद क्या इस बात की पड़ताल नहीं होनी चाहिए कि इसने वास्तव में दलित आबादी की सिफ़ारिशों के अनुसार जाति को आधार बनाकर सामाजिक और शैक्षणिक तौर पर विभिन्न धर्मावलम्बी 3,743 जातियों में 1 लाख की आय सीमा वालों के लिए सर्वोच्च न्यायालय ने 1992 में 27 फ़ीसदी आरक्षण लागू कर दिया था। इनमें भी आरक्षण का फ़ायदा बेहद सीमित आबादी को ही हुआ। क्योंकि बड़ी आबादी आरक्षण का फ़ायदा लेने की स्थिति तक ही कभी नहीं पहुँच पायी। कुल-मिलाकर आरक्षण अब 50 फ़ीसदी तक पहुँच चुका था। उसके बाद सरकारों ने आर्थिक आधार पर और विशेष पिछड़ी जाति का नाम देकर आरक्षण देने की क़वायदें जारी रखीं। उदाहरण के लिए 25 जनवरी 2013 को हरियाणा की तत्कालीन कांग्रेस सरकार ने 5 जातियों हम ग़लत मानते हैं, किन्तु क्या अपने संघर्षों को केवल आरक्षण हासिल करने और हासिल आरक्षण की हिफ़ाज़त करने तक ही सीमित रखना पर्याप्त होगा? इसी तर्क के आधार पर हम आज के समय आरक्षण को शासक वर्गों के हाथों में जनता को बाँटने का एक हथियार मानते हैं। बेशक अपने क़ानूनी और संवैधानिक अधिकार के तौर पर आरक्षण को ईमानदारी से लागू करवाने, कोटे के तहत ख़ाली पदों को भरने के लिए आन्दोलन खड़े किये जायें, किन्तु आज सबके लिए समान और निःशुल्क शिक्षा और हर काम करने योग्य नौजवान के लिए रोज़गार के समान अवसर का नारा ही सर्वोपरि तौर पर तमाम जातियों की मेहनतकश जनता का साझा नारा बन सकता है। पिछड़ी जातियों को 27 फ़ीसदी आरक्षण पहले से ही प्राप्त है। अब इसमें 10 प्रतिशत और जुड़ गया। बेशक यह 10 प्रतिशत 50 प्रतिशत से अलग है, किन्तु इसके दायरे में सामान्य वर्ग की 80 से 85 फ़ीसदी आबादी आती है। क्या विडम्बना है कि ढाई लाख से अधिक आय वाला आयकर दाता है और 8 लाख से कम आय वाला ग़रीब बनकर आरक्षण का लाभ ले सकेगा! बहुत से परिवार तो ऐसे भी होंगे, जिनमें कमाने वाला एक ही हो। विभिन्न आँकड़ों और ख़ुद सरकारी आँकड़ों के हिसाब से ही देश की 90 फ़ीसदी से भी अधिक आबादी अपनी आय 8 लाख से कम दर्शाती है। 12 जनवरी 2018 में दिये गये वित्त मन्त्री अरुण जेटली के एक बयान, जो बिज़नेस लाइन में

एक रोज़गार कार्यालय के बाहर बेरोज़गारों की भीड़।

के सामाजिक स्तरोन्नयन में कितना योगदान दिया है? आज यह सच है कि दलित आबादी के बीच से बेहद छोटा-सा, मुश्किल से 5 से 7 फ़ीसदी तबक़ा समाज के मलाईदार हिस्से में शामिल हो चुका है! इसमें भी कुछ चुनिन्दा दलित जातियाँ ही तुलनात्मक तौर पर आगे हैं। दलितों की बड़ी आबादी आरक्षण लागू होने के सात दशक के बाद तक भी उच्च शिक्षा क्या माध्यमिक शिक्षा तक भी नहीं पहुँच पाती, आरक्षण के फ़ायदे से रोज़गार हासिल करना तो दूर की कौड़ी है। तमाम विभागों में आरक्षित ख़ाली पड़ी सीटों को आसानी से देखा जा सकता है। यदि चुनावी व्यवस्था में प्रतिनिधित्व की बात की जाये तो भी हम देख सकते हैं कि मायावती, रामविलास पासवान, जीतनराम माँझी, उदित राज, रामदास आठवले इत्यादि जैसे शख्श कहाँ तक दलित आबादी का प्रतिनिधित्व कर पा रहे हैं और किस-किसके साथ गलबहियाँ कर रहे हैं। इस बात को बताने की आश्यकता नहीं है क्योंकि खेल सबके सामने है, हाथ कंगन को आरसी क्या पढ़े-लिखे को फ़ारसी क्या! आज सामाजिक-आर्थिक और सांस्कृतिक तौर पर दलित आबादी का कितना हिस्सा बराबरी की हैसियत तक पहुँचा है? तथा यही गति रही तो बाक़ी बचे हिस्से के स्तरोन्नयन में कितना समय लग सकता है? बिन्देश्वरी प्रसाद मण्डल की अध्यक्षता में बने मण्डल आयोग (जाट, जटसिख, रोड़, बिश्नोई, त्यागी) को विशेष पिछड़ी जाति का दर्जा देकर 10 प्रतिशत आरक्षण देने की घोषणा की तथा आर्थिक तौर पर पिछड़ों को, जिनमें ब्राह्मण, राजपूत, खत्री, पंजाबी और महाजन जातियों को रखा गया, भी 11 सितम्बर 2013 को 10 प्रतिशत आरक्षण दिया गया। हालाँकि आगे चलकर पंजाब और हरियाणा हाई कोर्ट ने इन दोनों ही प्रकार के आरक्षणों को खारिज़ कर दिया था। अभी फडणवीस की महाराष्ट्र सरकार ने मराठा जाति को 16 फ़ीसदी आरक्षण देने की बात कही है। तमिलनाडु में आरक्षण 69 फ़ीसदी तक पहुँच चुका है जिसका मामला उच्चतम न्यायालय में लम्बित है।

कहना नहीं होगा कि तमाम चुनावी पार्टियों और तथाकथित जातियों के ठेकेदारों को आरक्षण के नाम पर जनता की लामबन्दी बेहद आसान काम प्रतीत होता है तथा बहुत बार वे जातीय लामबन्दी को अपने वोटों में तब्दील करने में सफल भी रहे हैं, जो उनका मक़सद भी होता है। कई लोग अब डंके की चोट पर यह बात करते हैं कि सभी जातियों को ही आबादी के प्रतिशत के हिसाब से आरक्षण दे दिया जाये जैसे कि उनकी बुद्धि को लकवा मार गया हो या जैसे वे सोचते हों कि जनता की बुद्धि को ही लकवा मारा हुआ है, इसलिए जो मुँह में आये बको!

बेशक मनुवादी स्वर्ण मानसिकता के आधार पर आरक्षण को देखने को इस सच्चाई को समझने के बाद ही हम आपसी फूट और बँटवारे से बच सकते हैं।

अब आते हैं आर्थिक रूप से पिछड़ों को मिलने वाले 10 प्रतिशत आरक्षण के मसले पर। आर्थिक रूप से ग़रीब सामान्य वर्ग के लोगों के लिए आरक्षण प्राप्त करने के लिए मुख्य तौर पर पाँच अर्हताएँ होनी चाहिए। पहली परिवार की सालाना आय 8 लाख रुपये से कम हो, दूसरी है कृषि योग्य भूमि 5 एकड़ से कम हो, तीसरी है रिहायशी मकान 1,000 वर्ग फुट से कम हो, चौथी है नगर पालिका में प्लॉट 100 गज से कम हो तथा पाँचवीं है रिहायशी प्लॉट नगरपालिका से बाहर हो तो यह 200 गज से कम हो। इस प्रकार से कहने कि आवश्यकता नहीं है कि इस हिसाब से 10 प्रतिशत के दायरे में सामान्य वर्ग की क़रीब 80-85 प्रतिशत आबादी स्वतः ही आ जायेगी। सरकारी नौकरियों के मामले में देखा जाये तो इस आबादी को पहले ही 30-40 फ़ीसदी भागीदारी मिल ही जाती है तो फिर इन्हें सरकार ने नया क्या दे दिया। यदि दो ही मानकों को लें जिनमें एक है परिवार की आय 8 लाख या उससे कम हो तथा दूसरा है ज़मीन 5 एकड़ से कम हो तो देश की 90 प्रतिशत से भी अधिक आबादी किसी न किसी प्रकार के आरक्षण के दायरे में आ जायेगी! क्योंकि अनुसूचित जातियों को 15 फ़ीसदी, अनुसूचित जनजातियों को 7.5 फ़ीसदी, अन्य छपा था, के मुताबिक़ भारत में सिर्फ़ 76 लाख लोग ही अपनी सालाना आय 5 लाख रुपये अधिक दर्शाते हैं! पारिवारिक आय के मामले में हम इसी से अनुमान लगा सकते हैं। 2015-16 ताज़ा कृषि गणना के अनुसार 86.2 प्रतिशत आबादी के पास 5 एकड़ से कम ज़मीन है। इस प्रकार से यह देख सकते हैं कि किस तरह से सामान्य वर्ग के बीच आरक्षण का लुकमा फेंक दिया गया है, जबकि उसका बहुत बड़ा हिस्सा इसके दायरे में आता है।

भाजपा ने साढ़े चार साल में जो-जो गुल खिलाये हैं, उनके आधार पर तो जनता के बीच इन्हें जूते ही मिल सकते हैं, वोट तो कहाँ मिलेंगे! इसीलिए भाजपा-संघ परिवार मन्दिर-मस्जिद, आरक्षण, जाति-धर्म, गाय-गोबर जैसे मुद्दों पर ही जनता का ध्रुवीकरण करने में लगे हैं। रोज़गार के हालात बद से बदतर होते जा रहे हैं। सेण्टर फ़ॉर मॉनिटरिंग इण्डियन इकॉनमी (सीएमआई) की ताज़ा रिपोर्ट के अनुसार साल 2018 में 1 करोड़ 10 लाख लोगों ने अपनी नौकरी गँवाई है! नयी नौकरी के नाम पर प्रधानमन्त्री मोदी पकौड़े तलने और गन्दे नाले पर उल्टा बर्तन रखकर इसकी गैस से चाय बनाने की शिक्षा दे रहे हैं और संघी इन्द्रेश भीख माँगने को भी 2 करोड़ लोगों के लिए रोज़गार बता रहे हैं। शिक्षा की बात करें तो सरकारी शिक्षा व्यवस्था मृत्यु-शैया

(पेज 9 पर जारी)

ग़ैर-सरकारी संगठनों का सरकारी तन्त्र

- अपूर्व मालवीय

अगर आप किसी भी सरकारी विभाग में जायें और सरकारी योजनाओं की जानकारी लें तो निम्न जवाब सामान्य तौर पर मिलेगा - "हमारे विभाग की बहुत सी कल्याणकारी योजनाएँ हैं और इन योजनाओं को विभिन्न एनजीओ के सहयोग के माध्यम से क्रियान्वित किया जा रहा है।"

ज़्यादातर सरकारी विभागों की यही स्थिति है। सरकारी योजनाओं में ग़ैर-सरकारी संगठनों की घुसपैठ को समझा जा सकता है। नब्बे के दशक में जब भारत में उदारीकरण-निजीकरण की नीतियाँ लागू की गयीं, उस समय हमारे देश में एनजीओ की संख्या क़रीब एक लाख थी। आज इन नीतियों ने जब देश की मेहनतकश जनता को तबाह-बर्बाद करने में कोई कोर-कसर बाक़ी नहीं रख छोड़ी है, इनकी संख्या 32 लाख 97 हज़ार तक पहुँच चुकी है (सीबीआई की तरफ़ से सुप्रीम कोर्ट में दाखिल रिपोर्ट)। यानी देश के 15 लाख स्कूलों से दुगने और भारत के अस्पतालों से 250 गुने ज़्यादा!

अकेले उत्तर प्रदेश जैसे राज्य में ही 5 लाख 48 हज़ार एनजीओ हैं। दिल्ली जैसे छोटे राज्य में 76000 एनजीओ हैं। उत्तराखण्ड में 16674 गाँव हैं, लेकिन एनजीओ हैं 51675! यानी तीन एनजीओ प्रति गाँव। उत्तराखण्ड में साठ फ़ीसदी से अधिक एनजीओ का काम ग्रामीण विकास पर केन्द्रित है। लेकिन उत्तराखण्ड के गाँवों की दुर्दशा किसी से छिपी नहीं है। जो कम्पनियाँ यहाँ पर्यावरण, जंगलों, पहाड़ों, नदियों के विनाश के लिए ज़िम्मेदार हैं, वही कम्पनियाँ इन मुद्दों को लेकर गोष्ठी, सेमिनार और कैम्प आदि लगाया करती हैं। शिक्षा, स्वास्थ्य आदि क्षेत्र को भी बड़े-बड़े एनजीओ ट्रस्ट, धर्मार्थ सेवा संगठनों ने अपने शिकंजे में जकड़ लिया है। अभी उत्तराखण्ड सरकार ने 300 सरकारी विद्यालयों को "10 से कम बच्चे आ रहे थे, का तर्क देकर" बन्द कर दिया। सिर्फ़ यहीं तक यह मामला नहीं रुका। इसके साथ ही इन सरकारी विद्यालयों की इमारतों को विद्या भारती (फ़ासिस्ट संगठन आरएसएस की संस्था) को दे दिया। अब जहाँ बच्चे ही नहीं आ रहे थे, उन स्कूलों का विद्या भारती क्या करेगी, यह सोचा जा सकता है। सरकार चार ज़िलों के उन जवाहर नवोदय विद्यालयों को भी बन्द करने जा रही है, जिनमें अच्छी-ख़ासी संख्या में ग़रीब घरों के बच्चे आते हैं। उत्तराखण्ड में शिक्षा को लेकर 'अज़ीम प्रेमजी फ़ाउण्डेशन' सबसे अधिक काम करता है। पहाड़ों के कई स्कूलों को इसने गोद लिया है। उत्तराखण्ड में ज़्यादातर विश्वविद्यालय, कॉलेज बाबाओं-महन्तों के ट्रस्ट द्वारा संचालित हो रहे हैं। यही हाल स्वास्थ्य का है। स्वास्थ्य में मैक्स, फ़ोर्टिस जैसी कम्पनियों की दख़ल तो है ही, साथ ही बाबाओं-महन्तों के ट्रस्ट द्वारा संचालित कई मेडिकल कॉलेज सरकारी अस्पतालों को गोद लेकर ख़ूब मुनाफ़ा कमा रहे हैं। उत्तराखण्ड की राजधानी देहरादून के डोईवाला तहसील में एक सरकारी अस्पताल है, जो अब स्वामी राम हिमालयन हॉस्पिटल ट्रस्ट की देख-रेख में संचालित होता है। सरकारी अस्पताल में आये थोड़े से भी गम्भीर मरीजों को हिमालयन में रेफ़र कर दिया जाता है। सरकारी अस्पताल में ज़्यादातर ग़रीब-मेहनतकश ही आते हैं जो बमुश्किल ही पैसा देकर अपना इलाज करवा सकते हैं। लेकिन हिमालयन अस्पताल में भेजकर उनसे ठीक-ठाक फ़ीस वसूल ली जाती है। सुधीर नाम के व्यक्ति बताते हैं कि उनका रोड एक्सीडेण्ट हो गया था। 'परिवार के लोग सरकारी अस्पताल लाये तो यहाँ के डॉक्टर ने हिमालयन रेफ़र कर दिया। मैं ठीक तो हो गया लेकिन क़र्ज़ के बोझ से दब गया।'

उत्तराखण्ड के पहाड़, जंगल अपनी बहुमूल्य जड़ी-बूटियों, वानस्पतिक विविधताओं आदि के लिए जाने जाते हैं। लेकिन यहाँ की "सरकार इन जड़ी-बूटियों, वनस्पतियों के दोहन-संवर्द्धन के साथ ही इनके वास्तविक मूल्य लगा पाने में नाकाम है।" इसलिए इसकी ज़िम्मेदारी बाबा रामदेव एण्ड कम्पनी को दे दी है। ये वही बाबा हैं जो काला धन और भ्रष्टाचार पर ज़ोर-शोर से प्रचार करते आज से चार-पाँच साल पहले दिखा करते थे। इन महोदय के पास क़रीब 100 ट्रस्ट, सोसायटी और कम्पनियाँ हैं, जो जन-कल्याण का काम करती हैं। अभी फ़िक्की के एक सम्मेलन में इन्होंने बताया कि अभी तक उनकी कम्पनी 11 हज़ार करोड़ का जन-कल्याण कर चुकी है और अभी वे कृषि, शिक्षा, स्वास्थ्य और पर्यावरण में एक लाख करोड़ का जन-कल्याण करना चाहते हैं। बाबा जी का जन-कल्याण जानने के लिए जब इनका खाता-बही देखा गया तो पता चला कि पतंजलि की बिल्डिंग की सफ़ेदी-सफ़ाई भी "जन-कल्याण" है! वहाँ 12 घण्टे काम करने वाले 'मज़दूर-कर्मचारी' नहीं बल्कि "सेवक" हैं जिनके परिवार के गुज़ारे एवं सेवा के लिए बाबा कुछ सेवा फल मासिक तौर पर "जन-कल्याण" के नाम पर प्रदान करते हैं! बाक़ी आप जानते ही हैं कि समय-समय पर जो "जन-कल्याणकारी" योग-शिविर लगता है और अलग-अलग स्तर के जो करोड़ों रुपये के शुल्क बाबा योग सिखाने का लेते हैं, वो तो "जन-कल्याण" है ही!

सेवा के नाम पर अपने ही कर्मचारियों का शोषण

ये "जन-कल्याणकारी" संस्थाएँ अपने कर्मचारियों का शोषण करने में भी गुरेज़ नहीं करतीं। बहुत से एनजीओ, सोसायटी स्व-रोज़गार के उद्यम चलाते हैं। पहाड़ों में या दूरदराज के गाँवों में स्थानीय जड़ी-बूटियाँ, सब्ज़ियाँ, अचार या किसी क्राफ़्ट की वस्तुएँ आदि लेकर शहरों में हाई-क्लास सोसायटी के बीच में उसकी मार्केटिंग करते हैं और ख़ूब मुनाफ़ा कमाते हैं। लेकिन इन्हें बनाने वाले, जड़ी-बूटियों को जंगलों से लाने, उसकी प्रोसेसिंग, पैकिंग करने या इसकी मार्केटिंग में लगे कर्मचारियों तक को उनके श्रम की वाजिब क़ीमत तक नहीं मिलती।

पिछले साल देहरादून में एक बड़े ट्रस्ट राफ़ेल राइडर शशाया इण्टरनेशनल सेण्टर (जहाँ विकलांग बच्चों का इलाज, देखरेख और पढ़ाई आदि होती है) के कर्मचारियों ने अपने वेतन बढ़ाने के लिए आन्दोलन किया। 15-20 साल तक काम करने वाले इन कर्मचारियों को केवल 6000-7000 हज़ार रुपये ही मासिक वेतन दिये जा रहे थे। वहाँ के कर्मचारियों ने बताया कि पहले तो हम कम तनख़्वाह के बावजूद कुछ भी नहीं बोलते थे, क्योंकि हम यह मानकर चलते थे कि ये सेवा का काम है। लेकिन हमने देखा कि इसके प्रबन्धक, मैनेजिंग कमेटी के लोग विलासिता से रह रहे हैं। जब-तब वे अपनी तनख़्वाहें बढ़ा लेते हैं। जब हमारी बात आती है तो संसाधनों और पैसे की कमी का रोना रोते हैं। जबकि यहाँ सालों-साल कुछ-न-कुछ निर्माण का काम भी चलता रहता है। इससे भी यहाँ का मैनेजमेण्ट अपनी जेब गर्म करता है। जब इस ट्रस्ट के 2015-16 के वार्षिक वित्तीय हिसाब को देखा गया तो पता चला कि उस वर्ष इसे विदेशों से 3 करोड़ 62 लाख 3 हज़ार, 1 करोड़ 87 लाख 84 हज़ार का भारतीय अनुदान और ख़ुद राफ़ेल की आय 8 लाख 49 हज़ार थी। इसकी फ़ण्डिंग रतन टाटा समूह, ओएनजीसी, मैक्स इण्डिया, आरईजीई फ़ाउण्डेशन से होती है। करोड़ों की सलाना आय के बावजूद ये अपने कर्मचारियों को न्यूनतम वेतन तक नहीं देता है।

ये सिर्फ़ राफ़ेल का ही मामला नहीं है। रामदेव एण्ड कम्पनी के मज़दूर भी न्यूनतम वेतन और श्रम क़ानूनों के तहत मिलने वाली तमाम सुविधाओं के लिए हड़ताल कर चुके हैं। आपने गोरखपुर के गीता प्रेस के मज़दूरों के आन्दोलन के बारे में सुना ही होगा, जो सम्मानजनक वेतन की माँग कर रहे थे। गीता प्रेस ने इसका ख़ूब प्रचार किया कि धर्मार्थ कार्यों के लिए चलने वाली संस्था इतनी तनख़्वाह कैसे दे सकती है! लेकिन इसकी मैनेजमेण्ट ने यह नहीं बताया कि कैसे इसकी वितरण शाखाएँ पूरे देश में बढ़ती जा रही हैं? मैनेजमेण्ट ने यह भी नहीं बताया कि उसकी किताबों की वार्षिक बिक्री क़रीब 54 करोड़ रुपये है।

असल में किसी बड़े एनजीओ का वार्षिक बजट सैकड़ों-हज़ारों मिलियन्स या कई बिलियन डॉलर्स हो सकता है। 1999 में ही 'अमेरिकन एसोसियेशन ऑफ़ रिटायर्ड पर्सन्स' का बजट 540 मिलियन डॉलर्स से अधिक था! अधिकतर एनजीओ अपने वित्त के लिए सरकारों पर बहुत अधिक निर्भर होते हैं। सरकारें जनकल्याणकारी योजनाओं को लागू करने में राजस्व की कमी का रोना रोती हैं, जबकि इससे ज़्यादा की राशि को तमाम एनजीओ की गतिविधियों के लिए दे देती हैं। इन एनजीओ के मालिक व मैनेजमेण्ट देशी-विदेशी फ़ण्डिंग से विलासिता की ज़िन्दगी जीते हैं, जबकि इसमें काम करने वाले कर्मचारियों को न्यूनतम वेतन तक नहीं मिलता है। बहुत से नौजवान एनजीओ आदि में काम करके बमुश्किल अपना जेब-ख़र्च निकाल पाते हैं, लेकिन वे यह सोचकर अपने दिल को ख़ुश किये रहते हैं कि वे समाज-सेवा का काम कर रहे हैं।

रँगे सियारों की समाज-सेवा

क्या आप आड़ू के पेड़ में आम फलने की कल्पना कर सकते हैं? या गेहूँ की फ़सल बोकर गन्ना काटने की उम्मीद कर सकते हैं? नहीं न! उसी तरह क्या आप उम्मीद कर सकते हैं कि बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ, कॉर्पोरेट्स या पूँजीपति जो पूरी दुनिया के मेहनतकशों को लूट रहे हैं, इनके द्वारा खड़े किये गये एनजीओ, ट्रस्ट, धर्मार्थ सेवा संगठन आदि वास्तव में जनता की सेवा के लिए हैं? ऐसा कैसे हो सकता है कि एक तरफ़ ये पूँजीपति अपने मुनाफ़े के लिए मेहनतकशों की हड्डियों को भी पाउडर बनाकर बेच देंगे, संसाधनों पर कब्ज़े के लिए युद्ध तक छेड़ देंगे, खाद्यानों को बर्बाद करके उसको अपने गोदामों में सड़ा देंगे, भुखमरी का संकट खड़ा कर देंगे, लेकिन इसके बाद वही पूँजीपति, बहुराष्ट्रीय कम्पनियाँ अपने ट्रस्ट, एनजीओ के माध्यम से समाजसेवा का काम करेंगे? आख़िर इन पूँजीपतियों की दयालुता, सहृदयता का राज क्या है? दोनों हाथों से जनता को लूटने वाले ये रँगे सियार आख़िर बीच-बीच में समाजसेवी-खैरात की दुकानें क्यों सजाते हैं? अब आप थोड़ा असमंजस में पड़ गये होंगे। इस असमंजस को दूर करने के लिए चलिए एनजीओ आदि की राजनीति, अर्थनीति, समाजनीति पर थोड़ी चर्चा की जाये।

नक़ाब के पीछे की सच्चाई

वैसे देखा जाये तो मानव सेवा, समाज सेवा का काम कोई नया नहीं है। मध्यकाल में धर्म और उससे जुड़ी संस्थाएँ ये काम बख़ूबी किया करती थीं। लेकिन इसके साथ ही ये संस्थाएँ मौजूदा व्यवस्था को वैधता भी प्रदान किया करती थीं। जनता के बीच ये भ्रम बनाने में कि राजा ही हमारा वास्तविक प्रतिनिधि है, राजा की इच्छा ही ईश्वर की इच्छा है और राजा की सेवा ही हमारा धर्म है, ये सोच बनाने में इन्हीं धार्मिक संस्थाओं का ही योगदान होता था। इस कारण इन मठों, मन्दिरों, चर्च आदि को राजे-रजवाड़ों, सामन्तों आदि से अकूत धन-दौलत, ज़मीन इत्यादि मिला करती थी और ये संस्थाएँ पूरी निष्ठा के साथ अपने हुक्मरानों के क़िलों की हिफ़ाज़त किया करती थीं। अब आप कहेंगे कि ये तो पुराने ज़माने की बात है। चलिए नये ज़माने पर आते हैं -

नये ज़माने का पुराना भ्रम

वर्तमान शासकों को इन एनजीओ, ट्रस्ट की क्या ज़रूरत? अभी चर्चा हुई कि धार्मिक संस्थाएँ पुराने शासकों की वैधता की गारण्टी थीं। आज के शासक वैधता किससे प्राप्त करते हैं? ग्राम्शी ने बताया है कि मीडिया से। सिर्फ़ मीडिया से ही! नहीं! ये स्वयंसेवी संगठन, ट्रस्ट, एनजीओ आदि भी आज के शासकों को वैधता के सर्टिफ़िकेट प्रदान करते हैं। कैसे?

ये जनता के बीच उस भ्रम को पैदा करते हैं कि इस व्यवस्था में छोटे-छोटे सुधार करके इसको बेहतर बनाया जा सकता है। ये बताते हैं कि जनता की तबाही-बर्बादी की ज़िम्मेदार यह पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था नहीं बल्कि कुछ शासकों की ग़लत नीतियाँ, भ्रष्टाचार आदि है - जिसको ठीक किया जा सकता है।

आप जानते हैं कि 20वीं शताब्दी क्रान्तियों, जन-संघर्षों और युद्ध की शताब्दी रही है। ये वो दौर रहा है जब भारत सहित तीसरी दुनिया के तमाम देशों की जनता उपनिवेशवाद, अर्द्धउपनिवेशवाद, पूँजीवाद और साम्राज्यवाद के ख़िलाफ़ सड़कों पर थी। इसी दौर में रूस के मज़दूरों ने समाजवादी क्रान्ति की। इन संघर्षों और क्रान्तियों ने पूँजीपतियों और साम्राज्यवादी देशों को पीछे हटने पर मजबूर कर दिया। अपने लूट के साम्राज्य को बचाये रखने और सम्भावित क्रान्तियों के डर से साम्राज्यवादियों ने अपनी रणनीति को बदला। कुछ देशों में अपने जूनियर पार्टनरों को, कुछ में अपने पिट्ठुओं को, कुछ में सैनिक तानाशाहों को सत्ता सौंपी। नवस्वाधीन देशों में भी पूँजीवादी-साम्राज्यवादी लूट की नीतियाँ बदस्तूर जारी रहीं और इन नीतियों के कारण होने वाली तबाही-बर्बादी, शोषण-उत्पीड़न के ख़िलाफ़ जन-संघर्ष भी जारी रहे। हमारे देश में भी आज़ादी के बाद तेलंगाना, तेभागा, पुनप्रा-वायलार, नक्सलबाड़ी आन्दोलन के साथ ही आपातकाल के दौर के संघर्षों का इतिहास रहा है। ये जनसंघर्ष कहीं पूँजीवाद-साम्राज्यवाद विरोधी क्रान्तियों में न बदल जायें, इसके लिए ज़रूरी था कि ऐसे संगठन खड़े किये जायें जो जनता के क्रान्तिकारी आन्दोलन को दिशाहीन कर सकें। जनता में इसी व्यवस्था को बेहतर बनाने का भ्रम पैदा कर सकें।

हमारे हितैषी पूँजी के सरपरस्त गुलाम हैं

दूसरे विश्व युद्ध के बाद तीसरी दुनिया के तमाम देशों में स्वयंसेवी संगठन, ट्रस्ट, एनजीओ आदि बहुतायत में उठ खड़े हुए। ये मानवाधिकार के मुद्दे, दलित-उत्पीड़न, आदिवासी उत्पीड़न, जल-जंगल-ज़मीन, पर्यावरण, स्त्री-प्रश्न आदि-आदि पर हस्तक्षेप करते दिखायी देते हैं। लेकिन ये कभी-भी इन सारे सवालों को पूँजीवादी-साम्राज्यवादी व्यवस्था से जोड़कर नहीं प्रस्तुत करते, बल्कि इन सवालों को अलग-अलग टुकड़ों में हल करने का समाधान प्रस्तुत करते हैं। ये पर्यावरण के विनाश को रोकने के लिए पूँजीपतियों, उनकी सरकारों, और साम्राज्यवादियों से गुहार लगायेंगे! शासकों के दमन-उत्पीड़न की नीतियों के ख़िलाफ़ न्यायपालिका से

(पेज 9 पर जारी)

नये साल के मौक़े पर

केवल सत्ता से ही नहीं, पूरे समाज से फ़ासीवादी दानव को खदेड़ने का संकल्प लो!

(पेज 1 से आगे)

ने पिछले साल विकराल रूप ले लिया, क्योंकि बैंकों द्वारा दिये गये कुल क़र्ज़ के 10 फ़ीसदी से भी अधिक की वसूली की कोई सम्भावना नहीं दिख रही। यह दिखाता है कि पिछले साल बैंकिंग संकट पहले से भी ज़्यादा घनीभूत होता गया जिसका नतीजा आरबीआई और सरकार के बीच सार्वजनिक तकरार में भी सामने आया और अन्तरविरोध इतने तीखे हो गये कि साल के अन्त तक आते-आते अन्ततोगत्वा आरबीआई के गवर्नर को अपने पद से इस्तीफ़ा देना पड़ा। कहने की ज़रूरत नहीं कि सतह पर दिखने वाले इन लक्षणों के मूल में मुनाफ़े की दर के नीचे गिरने की प्रवृत्ति का पूँजीवादी संकट ही है जिसकी जद में दुनिया की तमाम अर्थव्यवस्थाएँ आ चुकी हैं।

खस्ताहाल अर्थव्यवस्था का सीधा असर इस देश की मेहनतकश आबादी की ज़िन्दगी पर पड़ रहा है जिसका नतीजा छँटनी, महँगाई, बेरोज़गारी और भुखमरी के रूप में सामने आ रहा है। हर साल की ही तरह पिछले साल भी मज़दूरों की ज़िन्दगी की परेशानियाँ बढ़ती गयीं। पक्का काम मिलने की सम्भावना तो पहले ही ख़त्म होती जा रही थी, अब ठेके वाले काम मिलने भी मुश्किल होते जा रहे हैं जिसकी वजह से मज़दूरों की आय लगातार कम होती जा रही है। नरेन्द्र मोदी द्वारा नये रोज़गार पैदा करने का वायदा तो बहुत पहले ही जुमला साबित हो चुका था, लेकिन पिछले साल यह ख़ौफ़नाक सच्चाई सामने आयी कि रोज़गार के अवसर बढ़ना तो दूर कम हो रहे हैं। सेण्टर फ़ॉर मॉनिटरिंग ऑफ़ इण्डियन इकोनोमी (सीएमआईई) की एक हालिया रिपोर्ट के मुताबिक़ वर्ष 2018 में देश में एक करोड़ से भी ज़्यादा नौकरियाँ ख़त्म हो गयीं। यह आँकड़ा बेरोज़गारी के मौजूदा हाल की ख़ौफ़नाक हक़ीक़त बयान करता है। ग़ौरतलब है कि बेरोज़गारी की सबसे ज़्यादा मार मज़दूर और निम्न मध्य वर्ग पर पड़ रही है। स्वयं सरकार के कार्मिक और प्रशिक्षण विभाग (डीओपीटी) द्वारा जारी आँकड़े के अनुसार वर्ष 2015 में संघ लोक सेवा आयोग (यूपीएससी), कर्मचारी चयन आयोग (एसएससी), रेलवे भर्ती बोर्ड (आरआरबी) द्वारा आयोजित प्रतियोगी परीक्षाओं में कुल 1,13,524 उम्मीदवारों का चयन हुआ था जो 2017 में घटकर 1,00,933 रह गया। बढ़ती बेरोज़गारी का नतीजा विभिन्न किस्म के सामाजिक तनावों के रूप में सामने आ रहा है जिनका दंश अधिकांशत: मज़दूर वर्ग को ही झेलना पड़ता है। मिसाल के लिए पिछले साल गुजरात से उत्तर भारतीय मज़दूर बड़े पैमाने पर पलायन करने के लिए मजबूर हुए।

कृषि में भी पिछले साल पूँजीवादी संकट का असर स्पष्ट दिखा। दिल्ली, मध्य प्रदेश, महाराष्ट्र, आन्ध्र प्रदेश और तमिलनाडु सहित देश के विभिन्न हिस्सों में किसानों के जुझारू प्रदर्शन हुए। देश के कई हिस्सों में किसानों ने अपनी फ़सल बेचने की बजाय सड़कों पर ही फेंककर अपना विरोध दर्ज कराया। गाँवों-गाँवों तक पूँजी की पैठ से किसानों का विभेदीकरण बढ़ रहा है और छोटे-मझौले किसान मुनाफ़े की खेती में पिछड़ रहे हैं। कुलकों और धनी किसानों के हितों की नुमाइन्दगी करने वाली पार्टियाँ समर्थन मूल्य बढ़ाने और क़र्ज़-माफ़ी जैसी माँगों के इर्द-गिर्द छोटे-मझौले किसानों को भी लामबन्द कर रही हैं जिसकी वजह से पिछले साल किसानों के प्रदर्शनों में ज़बरदस्त भीड़ देखने को मिली। हालाँकि कई राज्यों में किसानों की तमाम माँगें मानी भी गयीं, परन्तु इससे कृषि संकट हल नहीं होने वाला क्योंकि इन माँगों से धनी किसानों के ही वारे-न्यारे होने वाले हैं; जैसाकि दुनियाभर में देखने में आया है, पूँजीवादी खेती में छोटे और मझौले किसानों का उजड़ना तय है।

अर्थव्यवस्था के मोर्चे पर अपने फिसड्डीपन को छिपाने के लिए हिन्दुत्ववादी फ़ासिस्टों की फ़ौज ने पिछले साल भी पूरे देश में साम्प्रदायिक और जातीय तनाव को हवा देने की भरपूर कोशिश की। साल की शुरुआत में कासगंज और साल के अन्त में बुलन्दशहर में साम्प्रदायिक वारदातों में संघ परिवार की भूमिका खुलकर सामने आयी। इसके अलावा पूरे सालभर संघ परिवार ने राम मन्दिर का मुद्दा फिर से गर्माने की पुरज़ोर कोशिश की, ये दीगर बात है कि राम मन्दिर का मुद्दा काठ की हाँडी ही साबित हुआ। साम्प्रदायिक नफ़रत भड़काने के साथ ही साथ संघ परिवार ने जातीय विद्वेष की आग भड़काने में भी कोई कसर नहीं छोड़ी। पिछले साल एससी-एसटी एक्ट में छेड़छाड़ करके उसके प्रावधानों को ढीला करने की क़वायद करना ऐसी ही एक साज़िश थी।

नरेन्द्र मोदी ने पिछले चुनावों के दौरान महिलाओं के ख़िलाफ़ बढ़ती हिंसा को एक बड़ा मुद्दा बनाया था और औरतों की सुरक्षा सुनिश्चित करने का वायदा किया था। लेकिन मोदी सरकार के कार्यकाल में महिलाओं के ख़िलाफ़ हिंसा कम होने की बजाय बढ़ती ही गयी। पिछले साल कठुआ, उन्नाव और मुज़फ़्फ़रपुर में नृशंस यौन हिंसा की वारदातों में भाजपा के सदस्यों की लिप्तता उजागर होने के बाद मोदी सरकार की ख़ूब छीछालेदर हुई और महिलाओं की सुरक्षा के तमाम वायदों की हवा निकल गयी।

पिछले साल घपले-घोटालों को अंजाम देने और तमाम संवैधानिक संस्थाओं को अपने राजनीतिक हित के मातहत लाने की दिशा में भी भाजपा सरकार ने कांग्रेस के कीर्तिमान को ध्वस्त किया। चाहे रफेल जहाज घोटाला हो या रिलायंस को गैस चोरी की इजाज़त देने का मामला हो या फिर जियो इंस्टीट्यूट को खुलने से पहले ही पुरस्कृत करने का मामला हो, भाजपाइयों की पूँजीपतियों से साँठ-गाँठ और लूट-खसोट जगज़ाहिर हुई जिससे जनता के बीच उनकी लोकप्रियता निश्चित रूप से घटी। अपनी घटती लोकप्रियता से बिलबिलाये भगवा फ़ासिस्टों ने पहले की ही तरह पिछले साल भी अन्धराष्ट्रवाद का उन्माद फैलाने में कोई क़सर नहीं छोड़ी। भीमा कोरेगाँव मामले में मानवाधिकार कार्यकर्ताओं और एक्टिविस्टों की गिरफ़्तारी ऐसी ही उन्मादी मुहिम का हिस्सा थी।

अन्तरराष्ट्रीय पटल पर पिछले साल अमेरिका और चीन के बीच अन्तरराष्ट्रीय प्रतिस्पर्द्धा नयी ऊँचाइयों पर जा पहुँची जब इस प्रतिस्पर्द्धा ने व्यापारिक युद्ध का रूप ले लिया। पहले अमेरिका ने चीनी मालों पर आयात शुल्क बढ़ाने की घोषणा की और उसके जवाब में चीन ने भी अमेरिकी मालों पर आयात शुल्क बढ़ाने की घोषणा कर दी। कहने की ज़रूरत नहीं कि यह विश्व पूँजीवादी व्यवस्था में अमेरिकी साम्राज्यवाद के वर्चस्व में कमी और चीन का एक नये साम्राज्यवादी देश के रूप में तेज़ी से उभार का ही संकेत है। उधर सीरिया में भी अमेरिकी साम्राज्यवाद को मुँह की खानी पड़ी जब दिसम्बर में राष्ट्रपति ट्रम्प को सीरिया से अमेरिकी सेना वापस बुलाने की घोषणा करनी पड़ी। यह मध्यपूर्व की राजनीति में रूस-सीरिया-ईरान के गठबन्धन की बड़ी जीत है जो आने वाले दिनों में अन्तरसाम्राज्यवादी प्रतिस्पर्द्धा को और तीखा करने की ज़मीन तैयार करेगी। उधर यमन में अमेरिका, ब्रिटेन, फ़्रांस और कनाडा की सरपरस्ती में सऊदी अरब द्वारा किया जा रहा भीषण क़त्लेआम अपने चरम पर जा पहुँचा और एक मानवीय संकट की परिस्थिति उत्पन्न हो उठी। फ़िलिस्तीन में ज़ायनवादी इज़रायल की बर्बरता पिछले साल भी बदस्तूर जारी रही और कहने की ज़रूरत नहीं फ़िलिस्तीनियों का बहादुराना प्रतिरोध भी इज़रायली बर्बरता को चुनौती देता रहा। ब्राजील में धुर दक्षिणपन्थी बोल्सोनारो का राष्ट्रपति बनना भी पिछले साल अन्तरराष्ट्रीय पटल की एक प्रमुख घटना थी। इसके अतिरिक्त फ़्रांस में नवउदारवादी पूँजीवाद के ख़िलाफ़ जनउभार ('येलो वेस्ट' आन्दोलन) भी पिछले साल की अहम घटना थी जिसने यह दिखाया कि विश्व पूँजीवाद 2007-8 से जारी संकट से उबर नहीं पा रहा है और उसे उबारने के लिए किये जा रहे सारे प्रयास मेहनतकश जनता की ज़िन्दगी की मुश्किलों का बोझ बढ़ा रहे हैं।

देश-दुनिया में पिछले साल घटित हुए उपरोक्त घटनाक्रम की रोशनी में हमें आज के ठोस कार्यभारों को हाथ में लेना है। इसमें कोई शक नहीं कि कई मायनों में हम एक ऐतिहासिक सन्धिबिन्दु पर खड़े हैं जहाँ से भविष्य का रास्ता इस पर निर्भर करेगा कि आज सर्वहारा वर्ग के हितों की नुमाइन्दगी करने वाली शक्तियाँ इन परिस्थितियों का मूल्यांकन कितनी सटीकता से करती हैं और अपने प्रयासों को किस दिशा में निर्देशित करती हैं। फ़ासीवादियों की घटती लोकप्रियता से सन्तुष्ट होने की बजाय हमें इस परिस्थिति का लाभ उठाकर फ़ासीवाद के जनक और पोषक, यानी पूँजीवाद के ताबूत में आखिरी कील ठोंकने की तैयारियों में जी-जान से जुट जाना होगा। आगामी लोकसभा चुनाव इस प्रक्रिया में एक अहम माहौल तैयार करेगा।

ग़ैर-सरकारी संगठनों का सरकारी तन्त्र

(पेज 8 से आगे)

गुहार लगायेंगे! लेकिन कभी-भी जनता को क्रान्तिकारी संघर्ष के लिए लामबन्द नहीं करेंगे।

मज़े की बात यह है कि 1960 के दशक में जहाँ अमेरिकी साम्राज्यवाद परस्त सैनिक तानाशाहियाँ क़ायम हुईं या नवस्वाधीन देशों के शासकों ने अपनी नीतियों के लिए जनता का दमन किया, उन देशों में फ़ोर्ड फ़ाउण्डेशन ने जनहित क़ानून के निर्माण की दिशा में ख़ूब काम किया। मुक़दमेबाजी से सम्बन्धित ढेर सारे संगठन उठ खड़े हुए जैसे - विमेंस लॉ फ़ण्ड, एनवायरमेण्टल डिफ़ेंस फ़ण्ड, नेचुरल रिसोर्सेज डिफ़ेंस काउंसिल आदि-आदि। 'अमेरिकी वॉच' जैसे संगठन दमन-उत्पीड़न, भ्रष्टाचार, मानवाधिकारों के उल्लंघन पर पैनी निगाह रखने लगे और जनता में इस विचार को स्थापित करने का काम करने लगे कि विद्रोह मूर्ख शासकों की नीतियों का परिणाम होते हैं। लुब्बेलुबाब यह कि जिन्होंने पर्यावरण को तबाह किया उनके द्वारा खड़े किये एनजीओ ने पर्यावरण पर चीख़ना-चिल्लाना शुरू किया, जिन्होंने प्राकृतिक संसाधनों का अन्धाधुँध दोहन किया उनके ट्रस्टों ने प्राकृतिक संसाधनों की हिफ़ाज़त का रोना रोया, जिन्होंने अपने मुनाफ़े के लिए जनता का दमन और क़त्लेआम किया उनके स्वयंसेवी संगठन मानवाधिकारों के पैरोकार हो गये।

अब आप ख़ुद सोचिए कि देशी-विदेशी फ़ण्डिंग एजेंसियों, सरकारों आदि से लाखों-करोड़ों का अनुदान प्राप्त करने वाली इन संस्थाओं की राजनीति क्या है? क्या कारण है कि ये संस्थाएँ तीसरी दुनिया के उन देशों में सबसे ज़्यादा सक्रिय हैं, जहाँ क्रान्तिकारी परिवर्तन की सम्भावनाएँ मौजूद हैं? अपने चेहरे पर मानवीय मुखौटा लगाये हुए ये पूँजी के मालिकों के गुलाम हैं जो यह नहीं चाहते कि जनता एकजुट होकर उनकी बनी-बनायी व्यवस्था को नेस्तनाबूद कर दे। ये जनता को टुकड़ों-टुकड़ों में बाँटकर उसकी वर्गीय एकजुटता को तोड़ने का काम करते हैं। इसके साथ ही ये क्रान्तिकारी बनने की सम्भावना से लैस नौजवानों को सुधारवाद की घुट्टी पिलाकर उन्हें वेतनभोगी समाज-सुधारक बना देते हैं। एनजीओ के इस ख़तरनाक साम्राज्यवादी कुचक्र को समझने और उसे बेनक़ाब करने की आज सख्त ज़रूरत है।

10 प्रतिशत आरक्षण के मायने

(पेज 7 से आगे)

पर पहुँचा दी गयी है। स्कूल-कॉलेज और विश्वविद्यालय अध्यापकों और अवरचनागत ढाँचे से महरूम हैं। देश की मेहनतकश जनता और ख़ासतौर पर छात्रों-युवाओं को आरक्षण के नाम पर बँटने की बजाय सबके लिए समान और निःशुल्क शिक्षा और हर काम करने योग्य नौजवान के लिए रोज़गार के समान अवसर के मुद्दे पर एकजुट होकर सरकारों के सामने आवाज़ उठानी चाहिए। बिना शिक्षा और रोज़गार की उपलब्धता के आरक्षण भी अर्थहीन है।

नौकरियों की हालत देखी जाये तो हाल-फ़िलहाल रेलवे पुलिस फ़ोर्स के 10,000 पदों के लिए 95 लाख आवेदन प्राप्त हुए हैं! उससे पहले उत्तर प्रदेश में चपरासी के 62 पदों के लिए 93,000 आवेदन आये थे तथा 5वीं पास की योग्यता होने के बावजूद आवेदकों में क़रीब 5,400 पीएचडी थे! हरेक भर्ती का यही हाल है। सरकारी महकमों में लाखों पद पहले ही ख़ाली पड़े हैं, आरक्षण जैसे मुद्दे उछालकर अपने वोट बैंक के हित साधने की बजाय सरकारों को सबसे पहले तो इन ख़ाली पदों को भरना चाहिए। आज के समय आरक्षण का मुद्दा वोट बैंक को साधने के लिए एक ज़रिया बन चुका है। आर्थिक तौर पर ग़रीब सामान्य वर्ग के सामने 10 प्रतिशत आरक्षण का लुकमा फेंककर भाजपा ने एक और तो जनता का ध्यान असल सवालों से भटकाने का प्रयास किया है तथा दूसरा सामान्य वर्ग और ख़ासतौर पर स्वर्ण जातियों में अपने खिसकते जनाधार को रोकने का एक हताशाभरा क़दम उठाया है।

मराठा आरक्षण के मायने

- अविनाश

महाराष्ट्र असेम्बली ने 29 नवम्बर 2018, गुरुवार के दिन मराठा जाति को शिक्षा और रोज़गार के क्षेत्र में 'सामाजिक और शैक्षणिक रूप से पिछड़ा वर्ग' की एक नयी कैटेगरी बनाकर 16% आरक्षण पारित किया है। महाराष्ट्र में पहले से आरक्षण 52 प्रतिशत था। जिसके तहत अनुसूचित जातियों के लिए 13 प्रतिशत, अनुसूचित जनजातियों के लिए 7 प्रतिशत, अन्य पिछड़ा वर्गों के लिए 19 प्रतिशत, विशेष पिछड़ा वर्गों के लिए 2 प्रतिशत, विमुक्ता जाति के लिए 3 प्रतिशत, घुमन्तू जनजाति-बी के लिए 2.5 प्रतिशत, घुमन्तू जनजाति-सी (धनगर) के लिए 3.5 प्रतिशत और घुमन्तू जनजाति-डी (वंजारी) के लिए 2 प्रतिशत आरक्षण का प्रावधान था। अब मराठा आरक्षण मिलने के बाद यह 68% तक चला गया है। ऐसे में सवाल उठता है कि क्या मराठा जाति की ही पूरी आबादी को इसका फ़ायदा मिलेगा? आइए मराठा आरक्षण के ऐतिहासिक, सामजिक, आर्थिक और राजनीतिक पहलू पर ग़ौर करते हैं और इसकी पड़ताल करते हैं।

महाराष्ट्र में मराठा समुदाय की जनसंख्या लगभग 33 प्रतिशत है और महाराष्ट्र की राजनीति में इस समुदाय का दबदबा है। 200 कुलीन और अतिधनाढ्य मराठा परिवारों का आज प्रदेश के लगभग सारे मुख्य आर्थिक संसाधनों और राजनीतिक सत्ता के केन्द्रों पर क़ब्ज़ा है। मराठा आबादी के सबसे कुलीन वर्ग के पास अप्रत्याशित रूप से राजनीतिक और आर्थिक ताक़त का संकेन्द्रण है। प्रदेश के क़रीब 54% शिक्षा संस्थानों पर इनका क़ब्ज़ा है। प्रदेश की 105 चीनी मीलों में से क़रीब 86 का मालिकाना इनके पास है, प्रदेश के क़रीब 23 सहकारी बैंकों के यही खाते-पीते मराठा प्रबन्धक हैं, प्रदेशों के विश्वविद्यालयों में क़रीब 75% प्रबन्धन इनके क़ब्ज़े में है, क़रीब 71% सहकारी समितियाँ इनके पास है। जहाँ तक राजनीतिक ताक़त की बात है तो 1962 से लेकर 2004 तक चुनकर आये 2340 विधायकों में 1336 (यानी 55 फ़ीसदी) मराठा हैं। जिनमें से अधिकांश इन्हीं परिवारों से आते हैं। 1960 से लेकर अब तक महाराष्ट्र के 18 मुख्यमन्त्री में से 10 इनके बीच से ही हैं।

आज ये दो दशक से भी ज़्यादा से आरक्षण की माँग कर रहे हैं। 1990 में मराठा जाति को फ़ॉरवर्ड हिन्दू जाति और समुदाय का घोषित किया गया था और तीन सरकारी रिपोर्ट में मराठा जाति द्वारा अन्य पिछड़ा वर्ग में सम्मिलित होने की माँग को ख़ारिज़ कर दिया गया था। 2008 में महाराष्ट्र स्टेट बैकवर्ड क्लास कमिशन ने मराठा जाति को ओबीसी में सम्मिलित होने की माँग को ख़ारिज़ कर दिया था। इसके बाद 2014 में कांग्रेस-एनसीपी की सरकार ने चुनाव से ठीक पहले मराठा जाति के बीच से वोट बटोरने के लिए मराठा जाति को 16% और मुस्लिमों को 5% आरक्षण देने का लुकमा उछाला था। जिसे कोर्ट ने ख़ुद ही रद्द कर दिया था, क्यूँकि कोर्ट के अनुसार आरक्षण किसी विशेष जातियों को देने का अधिकार नहीं है, बल्कि यह जाति या जनजाति के समूह को दिया जा सकता जा सकता है, जैसेकि ओबीसी, एससी और एसटी। जुलाई 2016 में जब अहमदनगर के कोपर्दी गाँव में दलित लड़कों द्वारा मराठा जाति की लड़की के साथ बलात्कार और हत्या का मामला सामने आया, तब मराठा जाति तथा व्यापक जनता का इस घटना को लेकर रोष मुख्य तौर पर सामने आया। जिसके बाद पहला क्रान्ति मोर्चा औरंगाबाद ज़िले में हुआ, जहाँ काफ़ी संख्या में लोग पहुँचे और अगले 15 महीनों में 57 मराठा क्रान्ति मोर्चा का आयोजन राज्य की अलग-अलग जगह पर किया गया। आरोपियों को सज़ा देने से इतर इनकी तीन प्रमुख माँग उभरकर सामने आयीं, वे थीं - दलित उत्पीड़न विरोधी क़ानून, 1989 में संशोधन कराया जाये, अन्य पिछड़ा वर्ग के अन्तर्गत मराठा आबादी के लिए सरकारी नौकरी एवं शिक्षा में आरक्षण दिया जाये एवं राज्य द्वारा किसानों से अनाज ख़रीदने के मूल्य, यानी न्यूनतम समर्थन मूल्य में बढ़ोतरी की जाये। पर धीरे-धीरे कोपर्दी गाँव में घटी घटना के आरोपियों को सज़ा सुनाने की माँग पीछे हटती गयी और मराठा जाति के बीच 16% आरक्षण की माँग प्रमुख होती गयी। इन प्रदर्शनों की व्यापकता देखकर दो मत उभरकर सामने आ रहे थे। एक मत था कि इनके आयोजन के लिए होने वाले ख़र्च से लेकर इनको अप्रत्यक्ष तौर पर नेतृत्व प्रदान करने का काम प्रदेश की मराठा आबादी के बीच सबसे लोकप्रिय और विगत लोकसभा विधानसभा चुनाव में बुरी तरह असफल रहने वाली एनसीपी यानी राष्ट्रवादी कांग्रेस पार्टी कर रही है। एनसीपी के लगभग हर छोटे-बड़े नेता ने बिना किसी गाजे-बाजे के इन प्रदर्शनों में अपनी उपस्थिति दर्ज करायी भी है। भाजपा व शिवसेना में भी हावी मराठा लॉबी ने अपनी तरह से इसका लाभ उठाने का प्रयास किया है। वहीं दूसरी ओर चर्चित अख़बारों और पत्रिकाओं से लेकर बुद्धिजीवियों के एक धड़े का मानना है कि यह स्वतःस्फूर्त आधार पर उभरा एक जनान्दोलन है। पर जहाँ अब तक मराठा आन्दोलन शान्तिपूर्वक निकाला जा रहा था। फडणवीस सरकार ने जब 'मेगा रिक्रूटमेण्ट ड्राइव' के तहत 72,000 सरकारी नौकरियों की घोषणा की थी। उसके बाद मराठा जाति के ही काकासाहेब ने 23 जुलाई को ख़ुदकुशी कर ली, जिसके बाद इस आन्दोलन ने एक उग्र रूप धारण कर लिया। इसके अगले हफ़्ते तक इस घटना के चलते 100 गाड़ियों को तोड़ा गया और 4 लोगों के मरने की ख़बर भी आयी। इन आन्दोलनों के चलते फडणवीस सरकार ने 'मेगा रिक्रूटमेण्ट ड्राइव' को तब तक के लिए टाल दिया, जब तक मराठा जाति को 16% आरक्षण सुनिश्चित नहीं हो जाता है।

ऐसे में अगर हम आरक्षण की माँग उठाने वाली हाल के कुछ सालों में जातियों को देखें, तो पिछले दो-तीन सालों में गुजरात, उत्तर प्रदेश, हरियाणा एवं आन्ध्र प्रदेश में भी इस तरह के आन्दोलन हुए। जिसमें उभरती मँझोली किसान जातियों ने आरक्षण की माँग उठायी है। जिसके तहत गुजरात में पाटीदार, हरियाणा में जाट, आन्ध्र प्रदेश में कापू शामिल हैं। महाराष्ट्र में ऐतिहासिक तौर पर मराठा, कुनबी और माली जाति कृषि पृष्ठभूमि से तालुक़ात रखती हैं। जहाँ 20वीं सदी में कुनबी और मराठा जाति अपने आपको क्षत्रिय के तौर पर स्थापित करने के लिए लड़ रहे थे। आज बदली हुई आर्थिक परिस्थितियों में अपने सामाजिक स्थिति में बदलाव के तौर पर अपने आपको पिछड़े वर्ग के तौर पर शामिल करने की लड़ाई लड़ रहे हैं। मराठा जाति की 77 फ़ीसदी आबादी आज भी कृषि में लगी हुई है। ऐसे में कृषि उद्योग की हालत देखें तो पता चलेगा कि 2012-13 से 2017-18 तक के बीच में कृषि उद्योग में पिछले 4 साल में नेट ग्रोथ नेगेटिव में रहा है, वह -0.4% से -10.7% तक पहुँच गया है। जिसके चलते किसानों की आमदनी में कमी आयी है। 2004 से 2014 के बीच ग्रामीण इलाक़ों में रोज़गार देने की स्थिति 71% से घटकर 64% रह गयी है। महाराष्ट्र में ग्रामीण और शहर के बीच आमदनी का अन्तर भी देश में सबसे ज़्यादा है, शहर में पर कैपिटा इनकम 168,178 है जोकि ग्रामीण क्षेत्र से 3 गुना ज़्यादा है। 1995 से अब तक 2,96,438 किसानों ने आत्महत्या की है। महाराष्ट्र में 2004 से 2013 के बीच हर साल औसतन 3685 किसानों ने आत्महत्या की है। टाटा सामाजिक विज्ञान संस्थान (TISS) ने 2011 से 2017 के बीच सर्वे किया, जिसकी रिपोर्ट के अनुसार जिन किसानों ने आत्महत्या की, उनमें से 80% पढ़े-लिखे थे। जिनमें से 7.3% ग्रैजुएट या पोस्ट ग्रैजुएट पाये गये। आत्महत्या करने वाले किसानों में 65.8% किसान मराठा जाति, 10.4% किसान धनगर जाति, 4% लिंगायत और 3.1% माली जाति से आते थे। निजीकरण-उदारीकरण के 25 वर्ष से ज़्यादा बीतने के बाद कृषि संकट और मराठा आन्दोलन का उभार को देखें तो पता चलेगा कि कृषि में लगी मराठा जाति का तेज़ी से सर्वहाराकरण हुआ है। आज मराठा जाति के भीतर कृषि और उद्योग, गाँव और शहर, मानसिक श्रम और शारीरिक श्रम के बीच का अन्तर बेहद तीखा है। आकड़े बताते हैं कि 65% मराठा आबादी ग़रीब है और मराठा जाति का मुश्किल से 4 फ़ीसदी हिस्सा है जिनके पास 20 एकड़ से ज़्यादा ज़मीन मौजूद है। इस समय मौजूद स्टेट बैकवर्ड क्लास कमिशन के शैक्षणिक और सामाजिक आर्थिक आँकड़ों के अनुसार मराठा जाति की 37 फ़ीसदी आबादी ग़रीबी रेखा के नीचे आती है। 93 फ़ीसदी परिवार हैं जिनकी वार्षिक आमदनी एक लाख से नीचे है। एक सर्वे के अनुसार 60 से 65% मराठा कच्चे घरों में रहते हैं।

वहीं अगर हम अर्थव्यवस्था में कृषि की भागीदारी की बात करें तो सकल घरेलू उत्पाद का 15% से भी कम कृषि और इससे जुड़ी हुई गतिविधियों से आता है। वहीं आबादी का एक बड़ा हिस्सा अपनी जीविकोपार्जन के लिए इस पर निर्भर है। कृषि से इतर मैन्युफ़ैक्चरिंग और प्रत्यक्ष उत्पादन के अन्य क्षेत्रों में रोज़गार का सृजन नकारात्मक दरों में है। सरकारी एवं प्राइवेट क्षेत्रों में भी यही हालत है और जो नयी भर्ती हो रही है उनमें अधिकतर ठेके, कैजुअल, एडहॉक के अन्तर्गत है। आज बुनियादी सवाल रोज़गार सृजन का है। उदारीकरण-निजीकरण के इस दौर में आज स्टेट ऑफ़ वर्क इन इण्डिया 2018 के रिपोर्ट के अनुसार जहाँ कई सालों तक बेरोज़गारी 2 से 3% तक थी, 2015 में यह 5% पहुँच गयी जिसमें से युवा बेरोज़गार 16% तक थे। नौकरी की कमी की वजह से आमदनी घट गयी है। आज 82% पुरुष और 92% महिलाएँ 10,000 रुपये प्रति महीना से कम कमाते हैं। 1970 और '80 में जीडीपी ग्रोथ 3 से 4% थी और रोज़गार सृजन 2% प्रति साल था। पर 1990 से कहें या ख़ासतौर पर 2000 के बाद से जीडीपी 7% तक पहुँच गयी है, वहीं रोज़गार सृजन 1% या उससे भी कम हो गया है।

ऐसे में मराठा जाति के भीतर भी जो मेहनतकश तबक़ा है जो कृषि संकट और उससे उपजे रोज़गार, आमदनी में कमी, ग़रीबी और असमानता के खिलाफ़ नफ़रत रखता है। उसे अस्मितावादी -पहचान की राजनीति करने वाले संगठन-पार्टियाँ अपने फ़ायदे के लिए इस्तेमाल करते हैं और वर्गीय तौर पर एकजुट होने से रोकते हैं। यही कारण है कि व्यवस्थागत उत्पन्न हो रहे गुस्से को कभी जाति, भाषा, समुदाय, क्षेत्र के नाम पर बाँटने का काम किया जाता है। इसी तरह अस्मितावादी राजनीति के तहत जहाँ एमएनएस चीफ़ राज ठाकरे मराठी और ग़ैर-मराठी के बीच अन्तर पैदा करने की कोशिश करता है। जबकि एनएसएसओ (NSSO) की रिपोर्ट बताती है कि मुम्बई में महाराष्ट्र के ही गाँव और शहर से क़रीबन 70% आबादी प्रवास के लिए आती है। आँकड़ों के अनुसार जहाँ एक व्यक्ति बिहार, उत्तर प्रदेश, उड़ीसा से प्रवास के लिए महाराष्ट्र आता है, वहीं दूसरी तरफ़ 3 प्रवासी महाराष्ट्र के अन्दर से ही आते हैं। बुर्जुआ चुनावी राजनीतिक पार्टियाँ इस तरह के मसले अपनी चुनावी रोटी सकने के लिए करती हैं। जहाँ 2014 की असेम्बली इलेक्शन में एनसीपी-कांग्रेस द्वारा 16% आरक्षण का लुकमा फेल हो गया था। भाजपा को असेम्बली इलेक्शन में जीतने के बाद 122 सीटों सीटें मिली थीं। मगर वोट प्रतिशत की बात करें तो भाजपा को मराठा जाति का सिर्फ़ 24% वोट मिला था, शिवसेना को 29% और एनसीपी को 28% वोट मिला था। भाजपा द्वारा मराठा जाति को आरक्षण देने के पीछे मक़सद यही है कि मराठा जाति की प्रमुख पार्टी एनसीपी रही है, जिसकी हार के बावजूद मराठा जाति के बीच पकड़ मज़बूत है। वहीं भाजपा चुनाव से ठीक पहले आरक्षण की राजनीति से मराठा जाति के ही शहरी कुलीन आबादी के बीच अपने वोट बैंक को और बढ़ाना चाहती है। दरअसल इसमें अगर आरक्षण बिना किसी परेशानी के स्वीकृत भी हो जाता है तो उसका अगर थोड़ा-सा भी फ़ायदा मिलेगा तो वह मराठा जाति के ही उच्च वर्गीय शहरी कुलीन तबक़े को ही मिलेगा। मराठा जाति की आम मेहनतकश आबादी की ज़िन्दगी में रत्ती-भर भी अन्तर नहीं आयेगा। ख़ुद भाजपा के नेता नितिन गडकरी ने मराठा आरक्षण को लेकर कहा था कि आरक्षण की लड़ाई क्यों लड़ रहे हो जब नौकरी ही नहीं है। अस्मितावादी लड़ाई से होगा यह कि एक अस्मिता के बरक्स दूसरी अस्मिता खड़ी होगी। इसी राह पर धनगर जाति भी अनुसूचित जनजाति में आरक्षण पाना चाहती है, मुस्लिम भी 2014 में किये 5% आरक्षण के वादों को याद दिलायेंगे और हाल ही में सवर्णों के ग़रीब तबक़े को 10% आरक्षण देने की राजनीति भी की गयी है। आज हमें यह समझने की ज़रूरत है कि जातिगत पूर्वाग्रह तोड़कर वर्गीय तौर पर एकजुट होकर लड़ना ही उपाय है। वरना एक काल्पनिक रोटी में हिस्से की लड़ाई में रस्साकशी करने से फ़ायदा शासक वर्ग को ही मिलेगा।

आरक्षण के सवाल पर एक बेहद ज़रूरी और विचारोत्तेजक पुस्तिका जो हर नौजवान और जागरूक नागरिक को ज़रूर पढ़नी चाहिए

आरक्षण : पक्ष, विपक्ष और तीसरा पक्ष

मूल्य: 15 रुपये
प्राप्त करने के लिए सम्पर्क करें:
जनचेतनाडी-68, निराला नगर
लखनऊ - 226020
फ़ोन: 0522-4108495

ईमेल: janchetna.books@gmail.com

कार्ल लीब्कनेख़्त और रोज़ा लग्ज़म्बर्ग की शहादत की 100वीं बरसी

वे हमारे नेताओं की हत्या कर सकते हैं पर उनके विचारों को कभी नहीं मिटा सकते!

आज से 100 साल पहले, 15 जनवरी 1919 को मज़दूर वर्ग के दो महान नेताओं कार्ल लीब्कनेख़्त और रोज़ा लग्ज़म्बर्ग की पूँजीपतियों और उनके दलालों ने कायराना तरीक़े से हत्या कर दी थी। उस वक़्त दोनों की उम्र महज़ 47 वर्ष थी।

कार्ल लीब्कनेख़्त और रोज़ा लग्ज़म्बर्ग जर्मनी के मज़दूर आन्दोलन के अग्रणी नेताओं में से थे। जर्मन सामाजिक-जनवादी पार्टी (एसपीडी) द्वारा मज़दूर वर्ग से ग़द्दारी करके प्रथम विश्वयुद्ध के दौरान साम्राज्यवादी सत्ता का साथ देने के विरुद्ध 1915 में वे एसपीडी से अलग हो गये और स्पार्टाकस लीग का गठन किया। युद्ध-विरोधी प्रचार और आन्दोलन के कारण दोनों को गिरफ़्तार करके जेल में डाल दिया गया। युद्ध के अन्तिम दिनों में 1918 में वे जेल से रिहा हुए। 9 नवम्बर 1918 को लीब्कनेख़्त ने बर्लिन में ''स्वतंत्र समाजवादी गणराज्य'' की घोषणा की। स्पार्टाकस लीग के अख़बार 'द रेड फ़्लैग' के ज़रिए कार्ल और रोज़ा ने सभी राजनीतिक बन्दियों को रिहा करने की माँग उठायी। उसी महीने युद्ध से तबाह मज़दूर वर्ग ने जर्मनी में विद्रोह कर दिया जिसे नवम्बर क्रान्ति भी कहा जाता है।

29-31 दिसम्बर 1918 को स्पार्टाकस लीग, स्वतंत्र समाजवादियों और इंटरनेशनल कम्युनिस्ट्स ऑफ़ जर्मनी (आईकेडी) की संयुक्त कॉन्फ्रेंस हुई जिसके बाद कार्ल लीब्कनेख़्त और रोज़ा लग्ज़म्बर्ग के नेतृत्व में जर्मनी की कम्युनिस्ट पार्टी (केपीडी) का गठन हुआ। नये साल के पहले दिन रोज़ा लग्ज़म्बर्ग ने घोषणा की, ''आज हम हमेशा के लिए पूँजीवाद को नष्ट करने के काम में संजीदगी से जुट सकते हैं। बल्कि इससे भी ज़्यादा; आज हम न केवल इस काम को पूरा करने की स्थिति में हैं, न केवल इसे पूरा करना सर्वहारा वर्ग के प्रति हमारा फ़र्ज़ है, बल्कि हम जो समाधान पेश कर रहे हैं, वही मानवता को तबाही से बचाने का एकमात्र रास्ता है।''

जनवरी में ही मज़दूरों, सैनिकों और नाविकों के ज़बर्दस्त जनउभार के रूप में विद्रोह की दूसरी लहर फूट पड़ी। हालाँकि रोज़ा और कार्ल की नज़र में यह पूरी तैयारी के बिना समय से पहले ही हो गया था, लेकिन उन्होंने इसका समर्थन किया। युद्ध के बाद क़ैसर विल्हेल्म के गद्दी छोड़ने के उपरान्त सत्ता में आयी एसपीडी की सरकार ने घनघोर दक्षिणपंथियों के प्रभाव वाले अर्द्धसैनिक बल 'फ्राईकॉर्प' को विद्रोह को कुचल देने का आदेश दिया। लग्ज़म्बर्ग

और लीब्कनेख़्त भूमिगत हो गये थे लेकिन 15 जनवरी को उनका पता लग गया। फ्राइकॉर्प के अफ़सरों ने बिना किसी वारंट के रोज़ा लग्ज़म्बर्ग और कार्ल लीब्कनेख़्त को गिरफ़्तार किया और किसी अदालत में पेश किये बिना उनकी हत्या कर दी। रोज़ा को मारकर उनकी लाश बर्लिन की एक नहर में फेंक दी गयी जो महीनों बाद मिली और पहचानी गयी। लीब्कनेख़्त को टियरगार्टेन पार्क के जंगल में ले जाकर गोली मार दी गयी। उनकी हत्या के बाद भी जर्मनी के अनेक शहरों और प्रान्तों में मज़दूरों के विद्रोह और उग्र आन्दोलन जारी रहे, और अनेक जगहों पर अस्थायी ''सोवियत गणराज्य'' स्थापित किये गये। लेकिन सामाजिक-जनवादियों की अगुवाई में संगठित प्रतिक्रान्ति ने मई 1919 तक विद्रोह को बर्बरतापूर्वक कुचल दिया। यह प्रतिक्रान्ति 15 वर्षों बाद तब पूरी हुई जब हिटलर की अगुवाई में नात्सियों ने सत्ता पर क़ब्ज़ा कर लिया।

महान कम्युनिस्ट नेत्री और सिद्धान्तकार रोज़ा ने दूसरे इण्टरनेशनल के काउत्स्कीपंथी संशोधनवादियों और अन्ध-राष्ट्रवादियों के विरुद्ध जमकर सैद्धान्तिक-राजनीतिक संघर्ष किया और मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी अन्तर्वस्तु की हिफ़ाज़त की। साम्राज्यवाद की सैद्धान्तिक समझ बनाने में उनसे कुछ चूकें हुईं और बोल्शेविक पार्टी-सिद्धान्तों और सर्वहारा सत्ता की संरचना और कार्य-प्रणाली पर भी लेनिन से उनके कुछ मतभेद थे (जिनमें से अधिकांश बाद में सुलझ चुके थे और रोज़ा अपनी गलती समझ चुकी थीं), लेकिन रोज़ा अपनी सैद्धांतिक चूकों के बावजूद, अपने युग की एक महान कम्युनिस्ट क्रान्तिकारी नेत्री थीं। उनकी महानता को रेखांकित करते हुए, उन्हें श्रद्धांजलि देते समय रूसी क्रान्ति के नेता लेनिन ने कहा था, ''गरुड़ कभी-कभी आँगन की मुर्ग़ी से भी नीचे उड़ सकता है, पर आँगन की मुर्ग़ी कभी गरुड़ की ऊँचाई पर नहीं उड़ सकती। रोज़ा लग्ज़म्बर्ग ने कई ग़लतियाँ कीं...(अपनी गिरफ़्तारी के दौरान, 1918 तक, हालाँकि 1918 के अन्त में जेल से निकलने और 1919 के शुरू में उन्होंने अपनी ग़लतियों को समझा और उन्हें ठीक कर लिया था), लेकिन इन सभी ग़लतियों के बावजूद वह गरुड़ के समान थीं और गरुड़ ही रहेंगी। पूरी दुनिया में समाजवादियों की भावी पीढ़ियों के दिलों में वह ज़िन्दा रहेंगी और उनकी सम्पूर्ण कृतियाँ उन सभी के लिए उपयोगी रहेंगी।।''

महान जर्मन कवि और नाटककार बर्टोल्ट ब्रेष्ट ने रोज़ा लग्ज़म्बर्ग को याद करते हुए लिखा था:

और अब लाल रोज़ा हमारे बीच नहीं रही
वह कहाँ सोई है, कोई नहीं जानता
उसने ग़रीबों को बताया था जीवन का सच
और इसलिए अमीरों ने मिटा दिया उसका वजूद

मज़दूर वर्ग के लाखों प्रतिनिधियों की तरह कार्ल और रोज़ा के शरीर को पूँजी की दुनिया के मालिकों ने ख़त्म कर दिया लेकिन उनके विचारों को वे कभी ख़त्म नहीं कर पायेंगे, उनकी याद को वे मज़दूर वर्ग के विशाल हृदय से कभी मिटा नहीं सकेंगे। जर्मनी में हर साल हज़ारों लोग 15 जनवरी को अपने इन महान नेताओं की याद में सड़कों पर निकलते हैं। उनकी शहादत की सौवीं बरसी पर दुनिया भर के कम्युनिस्टों ने उन्हें याद किया और पूँजीवाद-साम्राज्यवाद को हमेशा के लिए दफ़नाने का संकल्प लिया।

कार्ल लीब्कनेख़्त और रोज़ा लग्ज़म्बर्ग : जीवन के अन्तिम घण्टे

बुधवार, 15 जनवरी 1919 को कार्ल लीब्कनेख़्त और रोज़ा लग्ज़म्बर्ग की हत्या कर दी गयी थी। बर्लिन के एक उपनगर विल्मर्सडोर्फ़ के बर्गरगरवेहर (सिविल गार्ड) ने लीब्कनेख़्त के गुप्त ठिकाने पर छापा मारकर उन्हें गिरफ़्तार कर लिया। दोनों को बर्लिन में ईडन होटल में ले जाया गया जो कि घुड़सवार पुलिस का स्टाफ़ हेडक्वाटर था।

हत्यारे काम में लगे हैं, उनके दुश्मन अब उनके क़ब्ज़े में हैं। उनकी नज़र में लीब्कनेख़्त है एक यहूदी, लीब्कनेख़्त, स्पार्टकस लीग वाला, लीब्कनेख़्त, आन्दोलनकर्ता और विद्रोही, वह शख़्स जिसका कोई देश नहीं, वह शख़्स जो सबकुछ बराबर कर देना चाहता है, वह व्यक्ति जो औरतों का राष्ट्रीकरण कर देना चाहता है, वह व्यक्ति जो पैसों को ख़त्म कर देना चाहता है। वहीं लीब्कनेख़्त अब उनके कब्ज़े में है।

रोज़ा लग्ज़म्बर्ग उनके क़ब्ज़े में है। रोज़ा लग्ज़म्बर्ग, पोलैंड की यहूदी, रोज़ा लग्ज़म्बर्ग, स्पार्टकस लीग वाली, आन्दोलनकर्ता, विद्रोही, रोज़ा लग्ज़म्बर्ग, लाल रोज़ा, ख़ूनी रोज़ा। रोज़ा लग्ज़म्बर्ग उनके क़ब्ज़े में है।

और जर्मन गणराज्य के साम्राज्यवादी अफ़सर ख़ुशी से हाथ मलते हैं। कैप्टन फ़्लुंक-हार्टुंग, लेफ़्टीनेंट स्टाइज, लीपमान, फ़ॉन रिएट्जेन, शुल्ज़ और हाइन्ज़ फ़्लुंक-हार्टुंग अपने हाथ मलते हैं। कैप्टन हॉफ़मन, पाब्स्ट और लेफ़्टीनेंट वोगेल और जैगर ज़ु फ़र्ड रुंगे दरवाज़े पर खड़े हैं। हत्यारों के लिए सबकुछ अच्छा चल रहा है।

"सुअर! वह मोआबिट (जेल) तक ज़िन्दा नहीं पहुँचेगा।" "रोज़ा भी नहीं।"

जैगर रुंगे ने कार में बैठे लीब्कनेख़्त के सिर पर पीछे से दो बार राइफ़ल के कुन्दे से वार किया। वह रोज़ा लग्ज़म्बर्ग के सिर पर भी वार करता है। वह गिर जाती हैं। रुंगे दोबारा मारता है, और उन्हें मरी समझकर छोड़ देता है। कार लीब्कनेख़्त को लेकर अँधेरी रात में आगे चली जाती है, लेकिन मोआबिट की दिशा में नहीं, बल्कि टियरगार्टेन (बर्लिन के बीचोबीच घने जंगली भाग वाला एक बड़ा पार्क) में। एक अँधेरी सड़क पर यह रुकती है। अर्द्धबेहोश व्यक्ति से कहा जाता है कि मोटर ख़राब हो गयी है, और पूछा जाता है कि क्या वह चल सकता है। हथियारबन्द सैनिक उन्हें घेर लेते हैं, और उन्हें अँधेरे जंगल में और भीतर ले जाया जाता है। फिर उसे एक वार से नीचे गिरा दिया जाता है, एक गोली की आवाज़ और रात में जंगल कराह उठता है।

लीब्कनेख़्त को लेफ़्टीनेंट लीपमान एक प्राथमिक चिकित्सा केन्द्र पर ''अज्ञात व्यक्ति, मरा पड़ा मिला'' के रूप में पहुँचा देता है।

बेहोश रोज़ा लग्ज़म्बर्ग को घसीटकर दूसरी कार में ले जाया गया है। ओबर-लेफ़्टीनेंट वोगेल ख़ून से सनी स्त्री के पास बैठा है। एक व्यक्ति पिस्तौल के कुन्दे से फिर उनके सिर पर मारता है। ओबर-लेफ़्टीनेंट वोगेल अपनी पिस्तौल उनके सिर से लगाता है और गोली से उनका भेजा उड़ा देता है। वे कार लेकर लैंडवेहर नहर तक जाते हैं और उनके मृत शरीर को पुल पर से अँधेरे जल में फेंक देते हैं।

हत्यारे अपनी रिपोर्ट में लिखते हैं, "लीब्कनेख़्त भागने की कोशिश में गोली से मारा गया।" आगे वे लिखते हैं, "रोज़ा लग्ज़म्बर्ग नाराज़ भीड़ के हाथों मारी गयी।"

हत्यारे ईडन होटल में शराब की दावत करते हैं। उनके फ़ोटोग्राफ़ लिये जाते हैं। वे मुस्कुराते हैं। वे अपने हाथ मलते हैं। वे सुरक्षित हैं, कोई उन्हें हाथ लगाने की हिम्मत नहीं करेगा। हत्यारों के लिए अभी सबकुछ अच्छा चल रहा है।

ब्रिटेन की कम्युनिस्ट पार्टी के अख़बार 'द कम्युनिस्ट रिव्यू', 24 जनवरी, वर्ष 4, अंक 9 में प्रकाशित

क्रान्तिकारी मार्क्सवाद से भयाक्रान्त चीन के नकली कम्युनिस्ट शासक

– सत्यम

चीन में तेज़ होते मज़दूर आन्दोलनों और जनता में बढ़ते असन्तोष के दौर में वहाँ के पूँजीवादी शासक समाजवाद के नाम पर चल रही अपनी शोषक सत्ता की वैधता साबित करने के लिए आजकल नये सिरे से मार्क्सवाद की दुहाई देने में लगे हुए हैं। पिछली मई में, कार्ल मार्क्स के 200वें जन्मदिन पर राष्ट्रपति शी जिनपिंग ने चीनी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्यों से फिर से मार्क्स की कृतियों, ख़ासकर 'कम्युनिस्ट घोषणापत्र' का अध्ययन करने के लिए कहा। एक टीवी शो 'मार्क्स ने सही कहा था' के ज़रिए आम जनता को भी मार्क्सवाद का पाठ पढ़ाया जाता है। लेकिन शी और चीनी पार्टी की प्रचार मशीनरी जिस मार्क्सवाद को प्रस्तुत कर रहे हैं वह दरअसल मार्क्सवाद की क्रान्तिकारी आत्मा को निकालकर विचारों की एक ऐसी घुट्टी है जिसे पीने के बाद लोगों को ''चीनी विशेषताओं वाला बाज़ार समाजवाद'' ही असली समाजवाद लगने लगे; ऐसा समाजवाद जिसमें करोड़ों के बर्बर शोषण और दमन के बूते देशी-विदेशी लुटेरी कम्पनियों के मुनाफ़े बढ़ते जायें और जिसमें मज़दूरों का ख़ून चूसने वाले खरबपति जोंक भी कम्युनिस्ट पार्टी के सदस्य बनने के लिए आमन्त्रित किये जाते हों!

लेकिन शी जिनपिंग और उसके गुर्गों के मार्क्स प्रेम की असलियत चीन की जनता समझने लगी है। जो नौजवान और बुद्धिजीवी वास्तव में मार्क्स की क्रान्तिकारी शिक्षाओं को समझकर उन्हें जीवन में उतारने की कोशिश करते हैं उन पर राज्यसत्ता का दमनतंत्र पूरी ताक़त से टूट पड़ता है। चीन में छात्रों द्वारा चलायी जा रहे अनेक मार्क्सवादी अध्ययन मण्डलों पर छापे मारकर उन्हें बन्द कराया जा रहा है और चीनी क्रान्ति के नेता माओ त्से-तुङ को याद करने पर लोगों को क़ैद किया जा रहा है।

पिछले 26 दिसम्बर को चीन के प्रतिष्ठित बीजिंग विश्वविद्यालय में मार्क्सिस्ट सोसायटी के प्रमुख क्यू झानचुआन को अगवा कर लिया गया और वह अब तक लापता हैं। क्यू का अपहरण हाल के महीनों में लापता हुए अनेक मार्क्सवादी छात्र नेताओं की कड़ी में सबसे हाल की घटना है। क्यू माओ त्से-तुङ के 125वें जन्मदिवस के मौक़े पर आयोजित एक समारोह में भाग लेने जा रहे थे जब सादे कपड़ों में आठ लोगों ने उन्हें पकड़कर एक कार में ठूँस दिया और कहीं ले गये। इस घटना से पहले क्यू चीनी मज़दूरों के आन्दोलनों के पक्ष में आवाज़ उठा रहे थे और माओ का जन्मदिवस मनाने का आह्वान किया था।

इससे पहले, सितम्बर में छात्रों द्वारा चलायी जा रही एक मार्क्सिस्ट सोसायटी ने सोशल मीडिया पर घोषणा की थी कि अधिकारियों के दबाव में उसे बन्द करना पड़ रहा है। अगले ही दिन, नानजिङ विश्वविद्यालय में युवा मार्क्सवादियों के एक समूह ने कहा कि उनके सामने भी तरह-तरह की दिक़्क़तें खड़ी की जा रही हैं। बीजिङ के एक और विश्वविद्यालय में एक मार्क्सिस्ट सोसायटी ने कहा कि उसे भी परेशान किया जा रहा है। पिछले नवम्बर में बीजिङ युनिवर्सिटी के पूर्व छात्र झाङ युनफुन को ग्वाङझाऊ शहर के एक विश्वविद्यालय में उसके द्वारा आयोजित मार्क्सवादी अध्ययन सत्र के बीच से ही गिरफ़्तार कर लिया गया। सार्वजनिक व्यवस्था भंग करने के आरोप में उसे छह महीने की जेल की सज़ा सुनायी गयी।

पिछले वर्ष अगस्त से अब तक चीन के विभिन्न स्थानों पर कम से कम 10 युवा मार्क्सवादी कार्यकर्ताओं को गिरफ़्तार किया गया है। महज़ पर्चे बाँटने पर भी लोगों को पीटा और गिरफ़्तार किया जा सकता है। कई छात्रों का कहना है कि पूरा बीजिङ विश्वविद्यालय जैसे श्वेत आतंक के साये में है। नवम्बर में बीजिङ विश्वविद्यालय प्रशासन ने कहा कि उसने कैम्पस की मार्क्सिस्ट सोसायटी के भीतर एक "अवैध संगठन" का पता लगाकर उसे ख़त्म कर दिया है। प्रशासन ने कहा कि इस ग्रुप का मकसद राज्यसत्ता के विरुद्ध षड्यंत्र करना था।

दरअसल, 1976 में चीन में हुई पूँजीवाद की पुनर्स्थापना के बाद से ही वहाँ के शासक चीन में क्रान्तिकारी मार्क्सवाद और माओ की क्रान्तिकारी विरासत के पुनरुत्थान की सम्भावना से भयाक्रान्त रहे हैं। हाल के वर्षों में एक ओर चीन एक नयी साम्राज्यवादी शक्ति के रूप में उभर रहा है, दूसरी ओर चीन में दुनिया का सबसे विशाल औद्योगिक सर्वहारा वर्ग तैयार हुआ है जिसकी राजनीतिक चेतना और जुझारूपन लगातार बढ़ रहे हैं। बढ़ती ग़ैर-बराबरी, शोषण-दमन, ग़रीबी, बेरोज़गारी और अमीरों की कुत्सित ऐयाशियों के रूप में "बाज़ार समाजवाद" की असलियत जैसे-जैसे लोगों के सामने आती जा रही है, वैसे-वैसे चीन के छात्रों-युवाओं में क्रान्तिकारी मार्क्सवाद को जानने-समझने और उसे मज़दूरों के बीच लेकर जानने के प्रयासों में भी तेज़ी आ रही है। इस बात से चीन के नये शासक ख़ौफ़ज़दा हैं और ऐसी तमाम कोशिशों को कुचल देने पर आमादा हैं।

पिछले वर्ष अनेक विश्वविद्यालयों के सैकड़ों छात्रों ने उन मज़दूरों के साथ एकजुटता ज़ाहिर की थी जिन्होंने औद्योगिक नगर शेनझेन में अपनी फ़ैक्ट्री में यूनियन बनाने की कोशिश की थी। उनकी मदद करने के लिए शेनझेन पहुँचे अनेक छात्रों को अगस्त में गिरफ़्तार कर लिया गया था। इनमें से कई ऐसे थे जो विभिन्न मार्क्सवादी अध्ययन मण्डलों से जुड़े थे। बीजिङ विश्वविद्यालय की मार्क्सिस्ट सोसायटी की ओर से सोशल मीडिया पर एक पोस्ट में इशारा किया गया था कि उन पर होने वाले दमन का सम्बन्ध शेनझेन की घटनाओं से था।

इसकी शुरुआत पिछले जून में दक्षिणी चीन में हुई जब शेनझेन की जेसिक टेक्नोलॉजी कारख़ाने के मज़दूरों ने यूनियन बनाने की शुरुआत की। सरकार ने उन्हें इजाज़त देने से मना कर दिया लेकिन मज़दूर आवेदन करते रहे। जुलाई में, दर्जनों मज़दूरों को पुलिस ने गिरफ़्तार कर लिया और कई मज़दूरों को सिक्योरिटी गार्डों ने बुरी तरह पीटा। जुलाई के अन्तिम सप्ताह में, ख़ुद को माओवादी बताने वाले वामपंथी छात्रों का एक समूह देश के अलग-अलग हिस्सों से यात्रा करते हुए मज़दूरों के विरोध प्रदर्शनों में शामिल होने के लिए पहुँचा। इस घटना ने पूरे देश का ध्यान खींचा। बीजिंङ विश्वविद्यालय के एक छात्र, युई जिन ने चीन के तमाम विश्वविद्यालयों के छात्रों के नाम जारी खुले पत्र में मज़दूरों का साथ देने और एक याचिका पर दस्तख़त करने का आह्वान किया। इन विरोध प्रदर्शनों में जनता की दिलचस्पी बढ़ते देख सरकार फ़ौरन इसके दमन पर उतर आयी। अगले कुछ महीनों के दौरान युई सहित कई छात्रों को अज्ञात लोगों द्वारा अगवा कर लिया गया।

दमन के बावजूद सोशल मीडिया और सड़कों पर लोगों के व्यापक समर्थन को देखते हुए सरकार और विश्वविद्यालय प्रशासनों को क़दम कुछ पीछे हटाने पड़े हैं। लेकिन मार्क्सवाद का अध्ययन करने वाले समूहों पर कड़ी नज़र रखी जा रही है। चीन की शासक नकली कम्युनिस्ट पार्टी सच्चे मार्क्सवादियों से डरी हुई है। उसका डर वाजिब भी है। उसके नेता पार्टी की क्रान्तिकारी विरासत को तो भूल ही गये हैं लेकिन उन्हें यह बात ज़रूर याद होगी कि जब कुछ मार्क्सवादियों ने एक शताब्दी पहले पीकिङ विश्वविद्यालय में एक अध्ययन मण्डल शुरू किया था तो उसमें आने वाले युवाओं में से एक का नाम था **माओ त्से-तुङ**।

मेघालय खदान हादसा : अँधेरी गुमनाम सुरंगों की ज़िन्दगी

(पेज 5 से आगे)

के रूप में, ठण्ड में गर्मी पैदा करने के लिए और आस-पड़ोस के राज्यों को निर्यात किया जाता था। 1970 के दशक में गुवाहाटी और असम की राजधानी के आसपास स्टील और रासायनिक उद्योग खुलने से बड़े पैमाने पर खदानें खोदी जाने लगीं। इन खदानों में काम करने वाले 40 प्रतिशत से ज़्यादा बच्चे हैं जिनकी उम्र 14 साल से कम है। पड़ोसी देशों नेपाल और बांग्लादेश से आये प्रवासी मज़दूर भी बड़े पैमाने पर इन खदानों में काम करते हैं। पूँजीवादी त्रासदी की मार झेलते हुए रोज़ी-रोटी की तलाश में ये बिना किसी सुरक्षा के 16-16 घण्टे काम करते हैं। हादसों में घायल होने, अपाहिज होने या इनकी जान चली जाने का कोई रिकॉर्ड नहीं है, क्योंकि ये अवैध प्रवासी मज़दूर हैं जिनका कोई पहचानपत्र नहीं होता है। इन अवैध ख़ानों में मौतों का सिलसिला अभी भी जारी है। 13 दिसम्बर से फँसे हुए उन 15 श्रमिकों की लाशों का अभी पता नहीं है, लेकिन 7 जनवरी को इस इलाक़े के अन्य अवैध खदान से दो मज़दूरों के शव मिले हैं जिनकी मौत एक बड़ा पत्थर गिरने से हुई है।

क़ातिल सुरंगों में दिखता पूँजीवादी व्यवस्था का अँधेरा

भारत में व्यावसायिक ऊर्जा का 67 प्रतिशत स्रोत कोयला है। कोयले ने पूँजीवाद की शुरुआती औद्योगिक क्रान्ति को सफल बनाया था। कोयले की अँधेरी ख़ानों से ही इस पूँजीवादी व्यवस्था की जगमगाहट पैदा हुई है। भारत देश में इन ख़ानों में काम करने वाले मज़दूर बेहद पिछड़े इलाक़े से आते हैं। इन इलाक़ों में एक तरफ़ दुनिया के प्रचुर ख़ान भण्डार हैं, वहीं दूसरी तरफ़ एक बेहद पिछड़ी मानव आबादी भी है। जो समाज के हाशिये पर ढकेल दी गयी है। जो जीने की शर्त को पूरा करने के लिए रोज़-ब-रोज़ मरने को मजबूर है। खदान मज़दूरों की औसत उम्र कम हो जाती है। अगर मज़दूर हादसों से बच भी जाते हैं, तो भी खदानों के अन्दर की ज़हरीली गैसें उनके फेफड़ों और शरीर की कोशिकाओं को काफ़ी नुक़सान पहुँचा चुकी होती हैं। सस्ते श्रम और ज़्यादा मुनाफ़े के चक्कर में खदान मालिक और ठेकेदार बच्चों और महिलाओं को बड़े पैमाने पर काम पर रखते हैं। बेहद पिछड़े इलाक़े से आने के कारण इन्हें कोई क़ानूनी सुरक्षा की भी जानकारी नहीं होती है।

दुनिया को रौशन करने वाली इन कोयला खदानों के मज़दूरों की ज़िन्दगी में पूँजीवादी व्यवस्था के अँधेरे को देखा जा सकता है।

कार्यस्थल पर मज़दूरों की मौतें : दुर्घटनाएँ या हत्याएँ

(पेज 5 से आगे)

साँठ-गाँठ करके किसी निजी अस्पताल या चिकित्सक के पास ले जाता है, ताकि मामला दर्ज ही न हो! किसी भी क्षेत्र में सबसे ख़तरनाक काम प्रवासी मज़दूरों के हिस्से आता है। प्रवासी, ग़रीब और दलित मज़दूर ही सबसे ज़्यादा अरक्षित होते हैं। उन्हें चोट लगने या मौत होने तक की स्थिति में मालिक पक्ष को बचने में ज़्यादा आसानी होती है। क्षेत्रफल और फ़ैक्टरियों की संख्या के हिसाब से श्रम विभाग में लेबर इंस्पेक्टरों की संख्या हमेशा कम होती है और रिश्वत का पूरा बोलबाला चलता है।

इतनी खराब स्थिति के पहले से ही मौजूद होने के बावजूद मौजूदा भाजपा सरकार द्वारा प्रस्तावित 'लेबर कोड' इस स्थिति की भयंकरता को और ज़्यादा गहराने वाला है। 2014 से ही भाजपा सरकार ने 40 केन्द्रीय श्रम क़ानूनों को 4 बड़े 'कोड' में तब्दील करने के लिए लोकसभा में एक बिल प्रस्तावित किया हुआ है। लेकिन इस प्रस्तावित बिल में भारत में कामगारों की कुल 47 करोड़ आबादी के 85 फ़ीसदी असंगठित मज़दूरों के लिए कोई जगह नहीं है। इस प्रस्तावित बिल पर सवाल किये जाने पर एक पूर्व लेबर सचिव, शंकर अग्रवाल बेशर्मी से यह फ़रमाते हैं कि मज़दूरों की सुरक्षा की महत्ता तो गौण है और भारत को ठेकेदारी व्यवस्था अपनाने में हिचकना नहीं चाहिए। प्रस्तावित बिल के हिसाब से 500 से कम कामगारों वाले किसी कारख़ाने में सुरक्षा इन्तज़ाम का निरीक्षण करना ग़ैर-ज़रूरी बना दिया जायेगा! 'देश' और 'औद्योगिक' विकास के लिए कुछ मज़दूरों की जान ही तो माँगी जा रही है!

मुनाफ़े पर टिकी पूँजीवादी व्यवस्था और इसके ताबेदारों के लिए मज़दूरों की जान की क्या क़ीमत है - यह उपरोक्त विवरण से साफ़ पता चल जाता है। हर दिन कई दुर्घटनाएँ होती हैं, ज़्यादातर दबा दी ज़ाती हैं और सामने नहीं आ पाती हैं। जो सामने आ पाती हैं, वे श्रम विभाग के रहमोकरम के भरोसे रहती हैं और श्रम विभाग का पट्टा किसके हाथ में है - यह सभी लोग जानते हैं। आज मज़दूरों पर पूँजी की मार बदस्तूर जारी है। सैकड़ों मज़दूरों की कुर्बानियों ने ही आज के मौजूदा श्रम क़ानून दिये जो भले ही काग़ज़ी हैं या लगातार और भी काग़ज़ी होते चले गये। आज हमारे सामने न केवल श्रम क़ानूनों के अधिकारों को हासिल करने, उन्हें लागू करवाने का सवाल उपस्थित है, बल्कि मुनाफ़ाखोर पूँजीवादी व्यवस्था के ख़ात्मे का सवाल भी हमसे रूबरू है। मज़दूरों की नयी पीढ़ियाँ ज़रूर एकजुट होकर अपने पुरखों की सुनियोजित हत्याओं का बदला लेंगी और यह बदला तभी मुक़म्मिल होगा, जब शोषण के किसी भी रूप को प्रश्रय देने वाली व्यवस्था का ही सुनियोजित और योजनाबद्ध तरीक़े से ध्वंस कर दिया जायेगा।

कपड़ा मज़दूरों की हड़ताल से काँप उठा बांग्लादेश का पूँजीपति वर्ग

– पराग वर्मा

नये साल के पहले दो हफ़्तों में बांग्लादेश का कपड़ा औद्योगिक क्षेत्र, जोकि दुनिया के सबसे शोषक औद्योगिक क्षेत्रों में से एक है, कपड़ा मज़दूरों के विरोध प्रदर्शनों से हिल उठा। कपड़ा मज़दूरों की इस ऐतिहासिक हड़ताल का पुलिस द्वारा बर्बर दमन किया जा रहा है। हालाँकि यह लेख लिखे जाते समय कॉर्पोरेट द्वारा ख़रीद लिये गये ट्रेड यूनियनों के बहकावे में और रोजी-रोटी छिन जाने की धमकी से डर के कई मज़दूर फ़ैक्टरी पर लौटना शुरू कर रहे हैं, पर तमाम मज़दूरों ने अभी हार नहीं मानी है और अपनी माँगों को लेकर अड़े हुए हैं और नये मज़दूरों को एकजुट कर रहे हैं।

बांग्लादेशी कपड़ा मज़दूरों के ख़िलाफ़ जिस प्रकार से पुलिस, प्रशासन, नेता और पूँजीपति वर्ग का एकजुट होकर दमन देखने को मिला है वह एशिया में पूँजीवादी वैश्वीकरण के काले चेहरे को उजागर करता है। पिछले एक दशक से जारी वैश्विक आर्थिक मन्दी के चलते कपड़ा उद्योग के मालिकों के बीच मुनाफ़े को बढ़ाने की होड़ और तेज़ हो गयी है। मुनाफ़ा बढ़ाने के लिए कपड़ा निर्माताओं ने पिछले कई वर्षों में कम से कम लागत में रेडीमेड कपड़ा बनाने के उद्देश्य से बांग्लादेश में कपड़ा बनाने वाली छोटी-बड़ी कम्पनियों की बाढ़ सी लगा दी हैं। बांग्लादेश में ही कपड़ा उद्योग का इस तरह वैश्विक विस्तार होने के पीछे वहाँ का इतिहास है। वहाँ हाथ से कपड़ा बनाने की तकनीकी कुशलता पर्याप्त रूप में मौजूद है। जब कपड़ा मालिक बांग्लादेश आये, तो वहाँ का न्यूनतम वेतन वैश्विक स्तर पर स्थापित कपड़ा मज़दूर के वेतन से बहुत कम था और अन्य देशों में, विशेष रूप से चीन में, कपड़ा मज़दूरों ने उच्च मज़दूरी के लिए सफलतापूर्वक लड़ाई लड़ते हुए अपना वेतन सापेक्षतः बढ़वा लिया था। यही कारण है कि कपड़ों के बड़े से बड़े वैश्विक ब्राण्डों का उत्पादन बांग्लादेश में होता आया है और अमेरिका, कनाडा और यूरोप के अनेक देशों को बांग्लादेश लगभग 1.9 लाख करोड़ रुपये का रेडीमेड गारमेण्ट निर्यात करता है। ये बड़े-बड़े ब्राण्ड बांग्लादेश में ख़ुद फ़ैक्टरी लगाने की बजाय स्थानीय फ़ैक्टरियों को उत्पादन का ठेका दे देते हैं और इस प्रकार वे मज़दूरों के काम करने की मानवीय परिस्थिति और उनकी सुरक्षा जैसी ज़िम्मेदारियों से पूरी तरह पल्ला झाड़ लेते हैं।

वैसे कपड़ा मज़दूर पिछले पाँच वर्षों से आन्दोलनरत हैं। इसकी शुरुआत 2013 से हुई थी, जब राणा प्लाज़ा इमारत के ढह जाने के कारण उसमें काम करने वाले 1138 मज़दूर मारे गये और 2000 घायल हो गये थे। मज़दूरों की ज़िन्दगी की सुरक्षा पर ध्यान दिये बिना पूँजीपति एक जर्जर इमारत में हज़ारों कपड़ा मज़दूरों से काम करवा रहे थे, जब ये हादसा हुआ। दिल दहला देने वाली इस दर्दनाक दुर्घटना के पीछे पूँजीपतियों के बीच मुनाफ़े के लिए आपसी होड़ ही ज़िम्मेदार थी। 2013 में इस घटना के बाद 50 हज़ार कपड़ा मज़दूरों ने प्रदर्शन किया और मज़दूरों ने अपना वेतन बढ़ाने और मज़दूरों की बदहाल ज़िन्दगी सुधारने हेतु कुछ क़दम उठाने की माँग सरकार के सामने रखी थी।

परन्तु मौजूदा हड़ताल में रखी गयी ठोस माँगों की शुरुआत दिसम्बर 2016 की हड़तालों से हुई थी, जब मज़दूरों ने रेडीमेड गारमेण्ट उद्योग का एक बड़ा हिस्सा माने जाने वाले ढाका के पास स्थित आशुलिया और सवर औद्योगिक क्षेत्रों को पूरी तरह बन्द कर दिया था। इस बन्द के दौरान ही न्यूनतम वेतन को 16000 टका कर देने की ठोस माँग रखी गयी थी और आशुलिया और सवर औद्योगिक क्षेत्रों में 10 दिनों के लिए 1.5 लाख मज़दूरों ने लगातार प्रदर्शन किया था। शेख हसीना की आवामी लीग की सरकार ने इस हड़ताल प्रदर्शन को बर्बर ढंग से कुचला था और इसी दौरान लगभग 1600 मज़दूरों को काम से निकाल दिया गया था और लगभग

1500 मज़दूरों पर कुछ बेबुनियाद आरोप लगाकर जेल पहुँचा दिया गया था। नौकरी से निकाल दिये गये मज़दूरों को ब्लैकलिस्ट भी कर दिया गया था, जिससे उन्हें कहीं और भी नौकरी ना मिल सके। नौकरी से पूरी तरह निकाल देने और फ़ैक्टरी पर ताला डाल देने की धमकियों के द्वारा इस मज़दूर आन्दोलन को शान्त कर दिया गया था।

सितम्बर 2018 में जब कपड़ा मज़दूरों ने फिर एकजुट होकर हड़ताल चालू की तो शेख हसीना ने सात स्तरों में बँटे मज़दूरों में से सबसे निचले स्तर के मज़दूरों का न्यूनतम वेतन 8000 टका कर दिया, जबकि माँग 16000 टके की रखी गयी थी। सापेक्षतः बढ़ी वृद्धि केवल दस प्रतिशत निचले स्तर पर कार्यरत मज़दूरों के वेतन में हुई और बाक़ी के 6 स्तरों में काम कर रहे मज़दूरों के वेतन में केवल 500 टके तक की वृद्धि करके छोड़ दिया गया जोकि बेहद कम था। ज़ाहिर सी बात है बेहतर जीवन के लिए 16000 टका के न्यूनतम वेतन की माँग कर रहे मज़दूरों के लिए ये काफ़ी नहीं था और उन्होंने एक बड़े पैमाने पर यही माँग दिसम्बर 2018 में फिर से उठायी। 2018 के अन्त में बांग्लादेश में राष्ट्रीय चुनाव होने थे और कपड़ा मज़दूरों का नेतृत्व कर रही विभिन्न ट्रेड यूनियनों को सरकार ने समझा दिया कि अभी ये प्रदर्शन बन्द कर दें और राष्ट्रीय चुनावों के बाद इस विषय पर बात की जायेगी। ट्रेड यूनियनों के नेताओं ने हड़ताल को बन्द करवा दिया और राष्ट्रीय चुनावों में आवामी लीग की एक बार फिर जीत हुई और शेख हसीना फिर से प्रधानमन्त्री बन गयीं। बताया जाता है कि शेख हसीना ने पूँजीपतियों की ताक़त की मदद से चुनावों में भी बहुत गड़बड़ियाँ कीं और किसी तरह एक विशाल बहुमत जुटाने में कामयाब रहीं।

6 जनवरी 2019 से कपड़ा मज़दूरों ने फिर से न्यूनतम वेतन को 16000 टका कर देने की अपनी माँग को उठाया। आशुलिया इण्डस्ट्रियल बेल्ट की पाँच फ़ैक्टरियों के मज़दूरों ने सड़कों पर उतरकर हाईवे को ब्लॉक कर दिया जिससे अफ़रा-तफ़री मच गयी। प्रशासन ने जवाबी कार्यवाई करते हुए मज़दूरों पर रबर बुलेट दागे और आँसू गैस छोड़ी, जिसमें लगभग 100 मज़दूर घायल हो गये। पुलिस की इस कार्यवाई में एक मज़दूर की जान भी चली गयी। सुमोन मियाँ नामक एक मज़दूर जोकि प्रदर्शन में शामिल भी नहीं था, के सीने में पुलिस की गोली लगी और उसकी जान चली गयी। उसकी लाश को सामने रखके भी जब मज़दूरों ने प्रदर्शन किया तो उसे भी पुलिस ने बड़ी बेरहमी से कुचल दिया। इस सबके बावजूद सवर इण्डस्ट्रियल एस्टेट, आशुलिया, गाज़ीपुर, मीरपुर इत्यादि कई इलाक़ों में लगभग 50 हज़ार मज़दूरों ने मार्च किया और पुलिस की जवाबी कार्यवाही के रूप में रबर बुलेट की गोलियाँ खाईं और पानी के जेट और आँसू गैस से आहत हुए। यही नहीं, सरकार के आदेश से पुलिस ने कुछ मज़दूरों को लक्ष्य बनाके उनके घरों से उन्हें निकालके धमकाया भी और पीटा भी। आन्दोलन को बढ़ते देख शेख हसीना की तानाशाह सरकार ने एक त्रिपक्षीय समिति (सरकार, फ़ैक्टरी मालिक और मज़दूरों की यूनियनों के प्रतिनिधियों को मिलाकर) का गठन कर दिया और इस समिति ने रविवार 13 जनवरी को सबसे निचले स्तर के न्यूनतम वेतन को 8000 टका बरकरार रखते हुए बाक़ी स्तर के मज़दूरों के वेतन में कुछ वृद्धि के आदेश दे दिये। इस वृद्धि के बावजूद भी अधिकांश मज़दूरों का कुल वेतन 16000 टका नहीं हुआ है।

13 जनवरी को दी गयी इस बढ़त को नाकाफ़ी बताते हुए बहुत से मज़दूर उन ट्रेड यूनियन लीडरों से ख़फ़ा हैं जो इस अधूरी माँग पूर्ति के हो जाने के तुरन्त बाद काम पर वापस जाने को कह रहे हैं। वैश्विक कपड़ा उद्योग की सप्लाई चेन श्रृंखला में वैसे भी बांग्लादेश का कपड़ा मज़दूर सबसे कम वेतन पर काम करने वाला मज़दूर है। वैश्विक कपड़ा उत्पादन में हर स्तर पर मुनाफ़ा निचोड़ने की इस पूरी श्रृंखला में सबसे अधिक शोषण बांग्लादेशी मज़दूर का ही होता है। 2013 से लेकर 2018 तक जो न्यूनतम वेतन में वृद्धि कर 8000 टका किया भी गया है, उसकी तुलना अगर पुराने वेतन 5300 टका से करें तो उसमें गारण्टीकृत वेतन के हिस्से के प्रतिशत में कमी आयी है और जो भी बढ़ाया गया है वो भत्ते के रूप में बढ़ाया गया है जिसे कभी भी मौक़े के हिसाब से पूँजीपति वापस छीन सकते हैं। बांग्लादेश की अर्थव्यवस्था कपड़े के उद्योग पर टिकी है और बांग्लादेश का 80 प्रतिशत निर्यात कपड़ा उद्योग से होता है। 2 लाख करोड़ की विदेशी मुद्रा लाने वाले इस उद्योग के कारण बांग्लादेश दुनिया में कपड़े का निर्यात करने वाला चीन के बाद दूसरे नम्बर का देश है। बांग्लादेश के कपड़ा उद्योग में लगभग 45 लाख मज़दूर काम करते हैं और विश्व पूँजी के जूनियर पार्टनर के रूप में काम करते बांग्लादेशी पूँजीपतियों और उनके हितों में काम करती आवामी लीग की सरकार को ये डर ज़रूर है कि ये आन्दोलन कहीं एक व्यापक मज़दूर आन्दोलन बनके उनके वर्चस्व को चुनौती ना दे दे, इसलिए पूरी सरकारी मशीनरी जैसे पुलिस, कॉर्पोरेट कम्पनियों और ट्रेड यूनियनों को साथ में मिलाकर इसे दबाने की कोशिश की गयी है। क्यूँकि कपड़ा उद्योग बांग्लादेश की अर्थव्यवस्था का मुख्य आधार है, पूँजीपतियों और सरकार मिलकर मज़दूरों के वेतन को इसलिए कम रखना चाहती हैं क्यूँकि अन्तरराष्ट्रीय बाज़ार की ट्रेड श्रृंखला में उनका मुनाफ़े में हिस्सा है और वो अपना हिस्सा कम नहीं होने देना चाहती हैं। यही कारण है कि कम्पनी प्रशासन और पुलिस ने सभी हथकण्डे अपनाये हैं और मज़दूरों को कई प्रकार से डराया और धमकाया गया है और ट्रेड यूनियनों के इस्तेमाल से इस पूरे मज़दूर आन्दोलन को बाँटने की कोशिश की गयी है। ट्रेड यूनियन एक्ट में बदलाव करके ट्रेड यूनियन बनाने के लिए न्यूनतम मज़दूरों की संख्या को 30 प्रतिशत से 20 प्रतिशत कर दिया गया है जिसके कारण बहुत से ट्रेड यूनियनें बन गयी हैं और इनमें से कई पूँजीपतियों और सरकार के हाथ की कठपुतली हैं, जो मज़दूरों के इस व्यापक आन्दोलन को अन्दर से खोखला करने का काम कर रहे हैं।

हमें ध्यान रखना चाहिए कि वॉलमार्ट, टेस्को, गैप, जेसी पेनी, एच एण्ड एम, इण्डिटेक्स, सी एण्ड ए और एम एण्ड एस जैसे विश्व में बड़े-बड़े ब्राण्डों के जो कपड़े बिकते हैं और जिनके दम पर पूरी फ़ैशन इण्डस्ट्री चल रही है, उस पूरी सप्लाई श्रृंखला के मुनाफ़े का स्रोत बांग्लादेश के मज़दूर द्वारा किये गये श्रम का ज़बरदस्त शोषण ही है। सरकारें और देशी पूँजीपति मुनाफ़ा निचोड़ने की इस श्रृंखला का ही हिस्सा हैं और इसलिए पुरज़ोर कोशिश करते हैं जिससे कम से कम वेतन बना रहे और उनका शासन चलता रहे। पुलिस, सरकार, ट्रेड यूनियनों के कुछ हिस्सों और पूँजीपतियों का एक होकर मज़दूरों को यथास्थिति में बनाये रखने की कोशिश करना साफ़ दर्शाता है कि ये सभी मज़दूर विरोधी ताक़तें हैं।

वेतन में दी गयी इस छुटपुट बढ़ोत्तरी से ज़्यादातर मज़दूर नाख़ुश हैं। उनका कहना है कि पिछले पाँच वर्षों में जिस प्रकार से जीवनयापन की लागत बढ़ी है, उसको देखते हुए वेतन में हुई ये बढ़ोत्तरी किसी काम की नहीं। कपड़ा कम्पनियाँ तगड़ा मुनाफ़ा कमाती हैं और पूरी ज़िन्दगी फ़ैक्टरी के फ़्लोर पर कपड़ा सिलते इन मज़दूरों को न्यूनतम से भी न्यूनतम आय पे रखने की कोशिश करती हैं। एक सर्वे के द्वारा पता चला कि कपड़ा मज़दूर की औसत आय उसके परिवार के 49 प्रतिशत ख़र्चों को ही पूरा कर पाती है। पिछले पाँच सालों में बांग्लादेश के कपड़ा मज़दूरों के परिवारों के जीवन का स्तर बहुत कम होता गया है। एक अध्ययन से यह ज्ञात हुआ है कि मज़दूरों के बच्चों की जन्म दर में भारी गिरावट आयी है। 47 प्रतिशत शादीशुदा मज़दूरों का एक बच्चा है और 28 प्रतिशत के एक भी बच्चा नहीं है। ऐसा उनके पारिवारिक जीवन के स्तर में गिरावट के कारण ही हुआ है। उनके सामाजिक जीवन और काम करने की परिस्थितियों की कठोरता और ख़तरे का अन्दाज़ा तो वहाँ आये दिन होने वाली फ़ैक्टरी दुर्घटनाओं से भी हो जाता है। चाहे वो 2012 में तज़रें फ़ैक्टरी में आग लगने वाला घटनाक्रम हो या 2013 का राणा प्लाज़ा की बिल्डिंग का ढहना हो, सभी यही बताते हैं कि पूँजीपति वर्ग के लिए अपने मुनाफ़े के आगे कपड़ा मज़दूरों के जान की कोई क़ीमत नहीं है। पूँजीपति वर्ग किसी भी क़ीमत पर मज़दूरों को एक सम्मानजनक जीवन जीने के लिए ज़रूरी 16000 टके के न्यूनतम वेतन की माँग पूरी करने के लिए तैयार नहीं है।

इस पूरी हड़ताल के दौरान हुई एकजुटता से एक बात तो साफ़ दिखायी पड़ रही है कि चाहे पूँजीपति वर्ग, उसकी सरकार और बिकाऊ ट्रेड यूनियनें कितनी भी कोशिशें कर लें, सड़ते पूँजीवाद से उपजती मज़दूरों की भौतिक परिस्थितियाँ उन्हें उनके शोषण से अवगत कराती जाती हैं और एक दिन वो एकजुट होकर अन्तरराष्ट्रीय पूँजी के पूरे ढाँचे को चुनौती दे सकता है। जब मज़दूर वर्ग की एकजुटता इस तरह एक सेक्टर में हुई हड़तालों के माध्यम से पूँजीपतियों को उनकी कुर्सी के लिए इस कदर चिन्तित कर सकता है तो वह बेशक एक दिन इससे आगे बढ़कर पूँजीपतियों को सत्ता की इस कुर्सी से गिरा भी सकता है और मज़दूर वर्ग की सत्ता स्थापित कर सकता है।

गोदी मज़दूरों का संघर्ष और बोल्शेविकों का काम

*प्रसिद्ध पुस्तक 'ज़ार की दूमा में बोल्शेविकों का काम' के कुछ हिस्सों की श्रृंखला में **तीसरी कड़ी** प्रस्तुत है। दूमा रूस की संसद को कहते थे। एक साधारण मज़दूर से दूमा में बोल्शेविक पार्टी के सदस्य बने **ए. बादायेव** द्वारा क़रीब 100 साल पहले लिखी इस किताब से आज भी बहुत–सी चीज़ें सीखी जा सकती हैं। बोल्शेविकों ने अपनी बात लोगों तक पहुँचाने और पूँजीवादी लोकतन्त्र की असलियत का भण्डाफोड़ करने के लिए संसद के मंच का किस तरह से इस्तेमाल किया इसे लेखक ने अपने अनुभवों के ज़रिए बख़ूबी दिखाया है। यहाँ हम जो अंश प्रस्तुत कर रहे हैं उनमें उस वक़्त रूस में जारी मज़दूर संघर्षों का दिलचस्प वर्णन होने के साथ ही श्रम विभाग तथा पूँजीवादी संसद की मालिक–परस्ती का पर्दाफ़ाश किया गया है जिससे यह साफ़ हो जाता है कि मज़दूरों को अपने हक़ पाने के लिए किसी क़ानूनी भ्रम में नहीं रहना चाहिए बल्कि अपनी एकजुटता और संघर्ष पर ही भरोसा करना चाहिए। इसे पढ़ते हुए पाठकों को लगेगा कि मानो इसमें जिन स्थितियों का वर्णन किया गया है वे हज़ारों मील दूर रूस में नहीं बल्कि हमारे आसपास की ही हैं। 'मज़दूर बिगुल' के लिए इस श्रृंखला को **सत्यम** ने तैयार किया है।*

बाल्टिक गोदी में हड़ताल

बाल्टिक की नौसेना की गोदियाँ नौसेना मन्त्रालय के अधीन थीं। वहाँ के कामकाजी हालात युद्ध कार्यालय की दूसरी फ़ैक्टरियों जितने ही असहनीय थे। साधारण मज़दूर आठ कोपेक प्रति घण्टा कमाते थे और ओवरटाइम रिवाज़ी था और आमतौर पर इसका आशय यह था कि काम के घण्टे दूने हो जाते थे। कार्यशालाएँ बहुत ही अस्वास्थ्यकर, सीलन और धुएँ से भरी थीं और हवा रोकने की व्यवस्था न होने के कारण जाड़े में बहुत ठण्डी हो जाती थीं। मज़दूरों को असहज और तंग अवस्था में काम करना पड़ता था। वहाँ आमतौर पर किसी आदमी को बुरी तरह तोड़ देने के लिए सात-आठ साल काफ़ी होते थे।

जैसाकि सभी युद्ध प्रतिष्ठानों में होता है, जहाँ के प्रबन्धक अफ़सरों की वर्दियाँ पहनते हैं, मज़दूरों को विशेष निर्दयता के साथ प्रताड़ित किया जाता था। प्रबन्धन घनिष्टता से पुलिस से जुड़ा हुआ था और फ़ोरमैन राजनीतिक पुलिस का एजेण्ट भी था। जासूसी को बढ़ावा और निन्दा को प्रोत्साहन दिया जाता था और आवश्यक सूचना मिलने पर प्रबन्धन द्वारा "राजद्रोह फैलाने वालों" को फ़ौरन पुलिस के हवाले कर दिया जाता था।

इन हालात के बावजूद गोदी मज़दूर बाक़ी सर्वहारा वर्ग से पीछे नहीं थे। 1913 के वसन्त और गर्मियों भर गोदियों में प्रायः विवाद होते रहे जिसके फलस्वरूप समूचे उपक्रम में या केवल कुछ विभागों और कारख़ानों में हड़तालें हो गयीं।

मई में एक कारख़ाना में हुए विवाद के दौरान, जिसमें दस मज़दूर प्रभावित हुए जिन्होंने बेसी घण्टों में काम करने से मना कर दिया था, प्रबन्धन के साथ बातचीत के लिए तीन प्रतिनिधि चुने गये थे। अभी बातचीत चल ही रही थी कि गोदी के प्रमुख ने पुलिस बुला ली, जिसने प्रतिनिधियों को गिरफ़्तार कर लिया। उसी रात, 20 मई को उनके घरों की तलाशी के बाद दस मज़दूरों को गिरफ़्तार कर लिया गया। इसके जवाब में एक अन्य कारख़ाने के 2000 कर्मचारी सड़क पर आ गये और अपनी आर्थिक माँगों में गिरफ़्तार मज़दूरों की रिहाई भी जोड़ दी। उसी दिन हड़तालियों ने घटनाक्रम की सूचना देने और जिन मज़दूरों को शिकार बनाया गया था उनकी ओर से मध्यस्थता करने के लिए दूमा की इकाई में अपने प्रतिनिधि भेजे। इकाई के एक अन्य सदस्य और मैंने नौसेना मन्त्री को तार भेजकर उनसे मुलाक़ात का अनुरोध किया।

नौसेना मन्त्री के साथ मुलाक़ात

दूमा की अपनी सदस्यता के दौरान जैसा कि हमारे धड़े के साथ आम था, मुझे प्रायः अलग-अलग मन्त्रियों से मिलना पड़ता था। आमतौर पर हमें आन्तरिक मामलात मन्त्री से मिलना होता था, जो पुलिस को नियन्त्रित करते थे और नतीजतन गिरफ़्तारियों और निष्कासनों जैसे मामले देखते थे।

हम पूरी तरह और अच्छे से जानते थे कि इस तरह की मुलाक़ातों से कोई स्पष्ट नतीजा नहीं निकलेगा। फिर हम क्यों जाते थे? हम मानते थे कि दूमा में दिये जाने वाले भाषणों की ही तरह मुलाक़ातों का भी एक निश्चित प्रतिरोधात्मक महत्त्व है। जब मज़दूरों को बाताया जाता था कि उनके प्रतिनिधि ने, जो उन्हीं की तरह एक मज़दूर है, ज़ारवादी मन्त्री के साथ बातचीत की माँग की है और वह उसके साथ बातचीत करने पर विवश है तो उनको संघर्ष करने का और हौसला मिलता था। प्रावदा में छपी इस आशय की सूचना कि मज़दूरों के प्रतिनिधि ने यह या वह माँग रखी है तो मज़दूरों की नयी क़तारें लड़ाई के लिए खिंचकर आगे आ जाती थीं। किसी मन्त्री के साथ मेरी हर मुलाक़ात के बाद मेरे घर पर नये मज़दूर आ जाते थे, ऐसे मज़दूर अब तक जिनका पार्टी या मज़दूर संगठनों से कोई वास्ता नहीं होता था, लेकिन जो अब माँग उठाने लगते और पूछताछ के लिए सामग्री लाने लगते और इस तरह खिंचकर संगठित मज़दूरों की क़तारों में चले आते। नयी भर्तियों ने मज़दूरों की अनासक्ति को और भी बढ़ावा दिया।

जिस समय हमने आवेदन किया, उस समय नौसेना मन्त्री एडमिरल ग्रिगोरोविच बाहर थे, इसलिए हमें उनके सहायक एडमिरल बुबनोव का जवाब मिला जो अगली सुबह हमसे मिलने के लिए राजी थे। कारख़ानों में जो कुछ भी हुआ था, उसे बताने के बाद हमने बुबनोव के सामने प्रस्ताव रखा कि उन्हें गोदी प्रबन्धन द्वारा किये गये दुर्व्यवहारों को गम्भीरता से लेना चाहिए।

सहायक मन्त्री ने शुरुआत में सामान्य बहानेबाज़ियाँ कीं : कि उन्हें इस मामले में कुछ भी पता नहीं है, कि गोदी प्रबन्धक ने अपनी रिपोर्ट में उन्हें इसकी सूचना नहीं दी है कि मज़दूरों को ओवरटाइम करने से इनकार करने के लिए बर्ख़ास्त कर दिया गया है, या कि मज़दूरियाँ घटा दी गयी हैं, वग़ैरह-वग़ैरह। बहरहाल, बात जब गिरफ़्तारियों के सवाल तक पहुँची तो बुबनोव इन इनकारों को भूल गये और यह स्पष्ट हो गया कि गोदी के प्रमुख ने अपने वरिष्ठ अधिकारियों के निर्देशानुसार काम किया था। सच है कि बुबनोव ने आपत्ति जतायी कि गोदी प्रमुख को दिये उनके आदेशों में पुलिस से मज़दूरों को गिरफ़्तार करने का अनुरोध करने का आदेश शामिल नहीं था। मानो पुलिस ने किसी दूसरे तरीक़े से समझ लिया लिया कि उनसे हड़तालियों के ख़िलाफ़ मदद करने का अनुरोध किया गया है!

हमारी आपत्तियों के फलस्वरूप बुबनोव को वादा करना पड़ा कि वह बाल्टिक गोदी के हालात की जाँच के लिए एक विशेष अफ़सर भेजेंगे। यह वादा भी महज़ एक छल था। अगले दिन किसी तफ़्तीश की जगह कारख़ाने पर सहायक मन्त्री के यहाँ से जारी एक सूचना लगायी गयी, जिसमें सम्बन्धित कारख़ानों को बन्द और मज़दूरों को बर्ख़ास्त करने की घोषणा की गयी थी।

बहरहाल, सहायक मन्त्री से हमारी मुलाक़ात का कुछ प्रभाव भी पड़ा। "ऊपर के आदेश" पर अगले ही दिन गिरफ़्तार मज़दूरों को रिहा कर दिया गया। लेकिन हड़ताल ख़त्म नहीं हुई; इसके विपरीत दूसरे विभाग भी उसमें शामिल हो गये, बढ़इयों और पेण्टरों सहित। इन मज़दूरों ने अधिक वेतन और बेहतर हालात की माँग रखी और जैसाकि स्वाभाविक था, सभ्य तरीक़े से बर्ताव करने की भी माँग की। मज़दूर बैरेक जैसी व्यवस्था का विरोध कर रहे थे, जो उन दिनों स्थल और नौसेना के प्रतिष्ठानों में प्रचलित थी। इस मौक़े पर तीन हज़ार से अधिक मज़दूर हड़ताल पर थे।

ओबुखोव के मज़दूरों का संघर्ष

महीनेभर में, जून के अन्त में, बाल्टिक गोदी में एक और हड़ताल हो गयी। इसका फ़ौरी कारण मज़दूरों के साथ प्रबन्धकों में से एक पोलिकार्पोव का दुर्व्यवहार और उनके वेतन में कटौती शामिल थी। मज़दूरों ने उसे खदेड़कर कारख़ाने से निकाल बाहर किया, उसके बाद वह कारख़ाना बन्द कर दिया गया। मज़दूरों ने अपनी ओर से हड़ताल की घोषणा कर दी और कई माँगें उठायीं। मज़दूरों का मनोबल तोड़ने के लिए पहली हड़ताल की तरह पुलिस की मदद ली गयी। दस से अधिक मज़दूरों को, जिनके नेता और संयोजक होने का सन्देह था, गिरफ़्तार कर लिया गया। मज़दूरों ने मुझे फ़ौरन सूचित किया और मैं एक बार फिर बन्दियों की ओर से बातचीत के लिए नौसेना मन्त्री ग्रिगोरोविच से मिला।

एडमिरल ग्रिगोरोविच उन ज़ारवादी मन्त्रियों में से थे जो ख़ुद को उदारवादी के रूप में पेश करते थे और जो दूमा के सदस्यों के साथ "अच्छे सम्बन्ध" बनाये रखते थे। बहरहाल, उनका उदारवाद एक ठकोसला था। उनका मक़सद महज़ बिल्कुल स्पष्ट प्रतिक्रियावादी क़दम उठाकर जनता को क्षुब्ध करने से बचना था। लेकिन असलियत में वे भी मैक्लाकोव, श्चेग्लोवितोव और दूसरे सामूहिक हत्यारों की ही तरह ब्लैक हण्ड्रेड्स की नीति पर अमल करते थे। ग्रिगोरोविच का "तर्कसंगत" रवैया बहुसंख्य अक्टूबरवादियों को इतना प्रिय था कि आगे चलकर जब अक्टूबरवादी विपक्ष में थे, रोड्ज़ियाँको ने ग्रिगोरोविच को ज़िम्मेदार मन्त्रीमण्डल का प्रधानमन्त्री बनाने की पेशकश की।

इससे पूरी तरह वाकिफ़ होने के कारण कि हमारी बातचीत का जनता के बीच प्रसारण होगा, ग्रिगोरोविच ने जनता के हितैशी की भूमिका निभायी। उन्होंने मुझे बताया : "मैं सबसे निचले पायदान से चलकर ऊपर आया हूँ, परिश्रम के कठिन विद्यालय से होकर क्योंकि मैंने एक क्लर्क के रूप में शुरुआत की थी।"

उन्होंने यहाँ तक कहा कि मैंने सड़क पर लगे एक मंच से मज़दूर सभा को सम्बोधित किया है और उग्र सुधारवादी विचार व्यक्त किये हैं, वग़ैरह-वग़ैरह। इसलिए वह ख़ुद को मज़दूरों के सवालों का विशेषज्ञ मानते थे और उन्होंने मज़दूरों के हालात और उनकी ज़रूरतों पर विस्तार से चर्चा की। दरअसल, मुझे इस बात की कोई ग़लतफ़हमी नहीं थी कि मैं किससे बात कर रहा हूँ, और मज़दूरों के प्रति प्रेमभाव जताने की उनकी मंशा को अच्छी तरह समझ रहा था। मुझसे जहाँ तक बन पड़ा मैंने जल्द से जल्द बातचीत को सम्बन्धित काम की तरफ़ मोड़ दिया और गिरफ़्तार मज़दूरों, और अधिकारियों के मनमाने तौर-तरीक़ों के बारे में मज़दूरों की माँगें उनके सामने रखीं।

ग्रिगोरोविच का "उदारवाद" तुरन्त काफ़ूर हो गया; मुझे कोई ठोस जवाब नहीं मिल सका, और अन्ततः उन्होंने अपने सहायक बुबनोव को बुलाया, और उनसे जाँच शुरू कराने को कहा। बुबनोव ने पिछली हड़ताल के मामले में जो उदाहरण प्रस्तुत किया था, उसके मद्देनज़र हम जानते थे कि जाँच से उनका आशय क्या होता है, क्योंकि वह और भी निष्कासनों और प्रबन्धन की करतूतों की पूरी तरह लीपापोती के लिए ज़िम्मेदार थे। बुबनोव ने हमें आश्वासन देना शुरू किया कि अब गोदी में सब कुछ अच्छा चल रहा है; आमदनी बढ़ गयी है, किसी पर भी ओवरटाइम करने के लिए दवाब नहीं डाला जाता, और सच बात तो यह है कि मज़दूरों की कोई शिकायत नहीं है। रही बात गिरफ़्तार मज़दूरों की तो चिन्ता करने की कोई ज़रूरत नहीं है, चूँकि वे बेकसूर हैं इसलिए रिहा कर दिये जायेंगे।

मैंने जब इसका ज़िक्र किया कि सहायक मन्त्री की बनायी समृद्धि की तस्वीर असलियत से कोसों दूर है, कि कामकाजी हालात और प्रबन्धन के क़दम मज़दूरों को लगातार उकासवा दे रहे हैं, तो ग्रिगोरोविच ने एक बार फिर जाँच कराने, मामले पर ध्यान देने, पता लगाने, वग़ैरह का वादा किया।

मन्त्रियों के वादों का मूल्य जानते हुए और इसके लिए कि मज़दूरों को समझना चाहिए कि वे ज़ारवादी मन्त्रियों से क्या अपेक्षा कर सकते हैं, मैंने इसका उल्लेख करते हुए कि वादे और आश्वासन कितने झूठे थे, प्रावदा में इस बातचीत का विस्तृत ब्योरा छापा। मन्त्री के साथ मेरी मुलाक़ात का ब्योरा वस्तुतः बाल्टिक के मज़दूरों से अधिकारियों से किसी तरह की उम्मीद न करने की अपील थी।

ओबुखोव वर्क्स के मामले में हस्तक्षेप

इसके कुछ ही दिनों बाद मुझे, ओबुखोव कारख़ानों की हड़ताल के मामले में, फिर नौसैन्य मन्त्री के साथ समझौता वार्ता करनी पड़ी, क्योंकि ये कारख़ाने भी नौसेना विभाग के नियन्त्रण में थे। वह हड़ताल जो जुलाई के अन्त में शुरू हुई थी और जिसमें वहाँ के 8000 कर्मचारी शामिल थे, असहनीय कामकाजी माहौल का नतीजा थी। कारख़ाने हानिकारक गैसों से भरे रहते थे, लेकिन मज़दूरों के बार-बार के अनुरोध के बाद भी उनमें हवा आने-जाने के उपकरण नहीं लगाये गये थे। सारे मज़दूर दिन के बारह घण्टे काम करते थे और बीच में खाना ख़ाने की भी छुट्टी नहीं होती थी, और मज़दूरी बीस से चालीस रूबल माहवार तक थी – जो न्यूनतम मज़दूरी से भी कम थी।

हड़ताल दो महीने से भी लम्बी चली, और जब वह ख़त्म हुई, तो सौ से अधिक मज़दूरों को काली सूची में डाल दिया गया और उन्हें काम पर वापस नहीं लिया गया। हड़ताल के दौरान तीन मज़दूर गिरफ़्तार किये गये थे और चौदह को सेण्ट पीटर्सबर्ग से निष्कासित कर दिया गया था और उनके साम्राज्य के बावन शहरों में रहने पर पाबन्दी लगा दी गयी थी। लेकिन पुलिस इतने-भर से सन्तुष्ट नहीं थी; ओबुखोव के कई मज़दूरों पर मुक़द्दमे चलाये गये; उन पर "ऐसे उपक्रमों में हड़ताल कराने के आरोप लगाये गये थे, जहाँ की हड़ताल राष्ट्रहित के लिए ख़तरनाक थी।"

(पेज 15 पर जारी)

गोदी मज़दूरों का संघर्ष और बोल्शेविकों का काम

(पेज 14 से आगे)

शुरुआत में जब मज़दूरों को गिरफ़्तार किया गया, मैंने तभी ब्रुखोनोव से मुलाक़ात की अर्जी दी, लेकिन स्पष्ट रूप से इससे डरकर कि मुझे प्रतिरोध की नयी सामग्री मिल जायेगी, उन्होंने मुझे तार का जवाब नहीं दिया।

6 नम्बर 1913 को हड़ताल ख़त्म होने के बाद ओबुखोव के मज़दूरों पर मुक़द्दमा चलाया गया। सुनवाई के दिन सेण्ट-पीटर्सबर्ग के 100,000 से अधिक मज़दूर एक दिन की हड़ताल पर चले गये और सभी फ़ैक्टरियों और मिलों पर सभाएँ की गयीं और प्रतिरोध के प्रस्ताव पारित हुए। हमारे धड़ों और प्रावदा को इस तरह के सौ से अधिक प्रस्ताव प्राप्त हुए। प्रावदा उनके उद्धरण छाप न सका। इस राजनीति हड़ताल को उत्साहपूर्ण और एकमत प्रतिसाद मिला। तत्कालीन सरकार के अधीन मज़दूरों को जो सीमित अधिकार हासिल थे, उनको बचाने की इच्छा से प्रेरित यह हड़ताल वस्तुतः बचावी क़दम नहीं सरकार पर एक नया हमला था।

सुनवाई के एक हफ़्ते बाद ओबुखोव के मज़दूर फिर से सड़कों पर आ गये, इस बार की हड़ताल के लिए प्रबन्धन की ओर से लागू किये गये नये नियम ज़िम्मेदार थे। नये नियमों के तहत सावधान से सावधान मज़दूर के लिए हर दिन कोई-न-कोई जुर्माना लगने से बच पाना नामुमकिन था; ओवरटाइम अनिवार्य था और उसका भुगतान डेढ़ गुने की बजाय सामान्य दर से मिलने वाला था, और भुगतान के दिन मज़दूरों के साथ सुनियोजित ढंग से धोखाधड़ी की जाती थी। सरकार ने मज़दूरों के ख़िलाफ़ सबसे उकसाऊ रवैया अख़्तियार कर लिया। किसी तरह की सभा की अनुमति नहीं थी, उनकी भी नहीं, नियमतः जो अनुमत थे, और यह घोषणा की गयी कि यदि कुछ ख़ास ग्रेडों के कर्मचारी काम बन्द करते हैं तो उन पर आपराधिक मामले चलाये जायेंगे। पूरा ज़िला पुलिस से अटा पड़ा था।

चूँकि ओबुखोव के मज़दूर मानते थे कि उनके अपने क़रीबी प्रमुखों के साथ समझौता वार्ता असम्भव है, इसलिए उन्होंने नौसैन्य मन्त्री को गोदी के हालात से अवगत कराने और उन तक अपनी माँगें पहुँचाने के लिए नौसैन्य मन्त्री के पास एक प्रतिनिधिमण्डल भेजने का फ़ैसला किया। मज़दूरों के अनुरोध पर मैं एक बार फिर ग्रिगोरोविच के पास गया और उनके सामने ओबुखोव के मज़दूरों के हालात बयान किये।

इस बार ग्रिगोरोविच ने उदारवादी होने, या लोगों का दोस्त होने का दिखावा भी नहीं किया। उन्होंने कहा कि वह न तो मज़दूरों के किसी प्रतिनिधिमण्डल से मिल सकते हैं और न किसी निर्वाचित व्यक्ति के साथ मिलने की मंज़ूरी ही दे सकते हैं। "उनकी ज़रूरतें चाहे जो भी हों, मज़दूर केवल गोदी प्रमुख के सामने पेश हो सकते हैं।"

दूमा का शरद सत्र प्रारम्भ होने वाला था, और ओबुखोव के मज़दूरों ने हमसे गोदी मज़दूरों के हालात और प्रबन्धन की कार्रवाइयों के बारे में फ़ौरन एक पूछताछ लाने की गुज़ारिश की। 15 नवम्बर को पूछताछ सदन में सौंपी गयी, लेकिन 10 दिन तक पटल पर नहीं आ सकी।

उस पर चली बहस में दक्षिणपन्थ ने अपनी बड़ी तोपें निकालीं; उनका मुख्य प्रवक्ता नरमेध का अग्रणी नेता मार्क्लोव था, जो फाँसी चढ़ाने, गोली मार देने की अपील करते कभी नहीं थकता था। ज़ारवादी सरकार द्वारा लागू क़ैद की व्यवस्था उसके लिए बहुत हल्की थी। दूमा में ज़मींदारों के सबसे प्रतिक्रियावादी धड़े का, जिसके दिमाग़ में 1905 के उनके प्रतिष्ठानों की आगजनी और लूट की यादें अभी ताज़ा थीं, प्रतिनिधित्व कर रहे मार्कोव ने क्रान्तिकारी उदार पूँजीवादी आन्दोलन के सभी लक्षणों के ख़िलाफ़ सख़्त से सख़्त क़दम उठाने की माँग की। स्वाभाविक रूप से उसे मज़दूर वर्ग से ज़बरदस्त नफ़रत थी, जिसे वह मौजूदा शासन प्रणाली का सबसे ख़तरनाक़ दुश्मन मानता था।

मार्कोव के भाषण का निशाना हड़ताल आन्दोलन और सोशल-डेमोक्रेटिक पार्टी थी जो इस आन्दोलन का नेतृत्व कर रही थी। उसने उस चुनौती के बारे में मेरे अन्तिम शब्द को पकड़कर मुझ पर व्यक्तिगत हमले से शुरुआत की, जो समाजवादी-लोकतान्त्रिक धड़े ने समूचे सर्वहारा के नाम पर दूमा में मौजूद ब्लैक हण्ड्रेड बहुसंख्यक को दी थी।

"श्रीमान बादयेव," मार्कोव ने कहा, "आप नौजवान व्यक्ति हैं; कोई चुनौती केवल तभी दी जाती है जब लड़ने की मंशा होती है। लेकिन आप अभी लड़ नहीं रहे हैं। किसी मन्त्री को दी गयी चुनौती को सामान्य समझ समझने की भूल नहीं की जानी चाहिए और सामान्य समझ को आपका प्रधान मार्गदर्शक होना चाहिए।"

मार्कोव ने सरकार से एक सवाल करते हुए अपना भाषण समाप्त किया। वह जानना चाहता था कि क्या सरकार मानती है कि वह क्रान्तिकारी आन्दोलन के ख़िलाफ़ प्रभावी ढंग से लड़ रही है :

"क्या आप महानुभाव सचमुच कुकर्मियों और दुश्मनों से रूसी जनता को बचाने का अपना कर्तव्य निभा रहे हैं जो बाहर से काम करते हैं लेकिन घोर देशद्रोह के दोषियों की मदद से घुस आते हैं? मैं घोषणा करता हूँ कि मेरा पितृदेश ख़तरे में है।"

समाजवादी-लोकतान्त्रिक धड़े की ओर इंगित उसका भाषण धमकाऊ शब्दों और भंगिमाओं के भरा हुआ था। वामपन्थी क़तारों की ओर मुड़कर उसने अपना हाथ इस तरह रखा, मानो उनकी ओर निशाना साधकर बन्दूक थाम रखी हो, और कहा "आप हम पर हमला कर रहे हैं, लेकिन हम पहले आप पर गोली चलायेंगे!"

दूमा ने जाँच आदेश पारित कर दिया, लेकिन इसका आशय यह नहीं था कि मज़दूरों को कुछ हासिल हो गया, कारख़ानों में सब कुछ जब का तस बना रहा। नौसैन्य मन्त्री ने रत्ती भर भी रिआयत नहीं की।

माइन मैम्युफ़ैक्चरिंग वर्क्स में विस्फोट और अन्त्येष्टि के समय प्रदर्शन

ओबुखोव के मज़दूरों के हालात कोई ख़ास अलग नहीं थे। दूसरे कामों में भी बेरोकटोक शोषण हो रहा था और कामकाजी हालात असहनीय थे, ख़ासकर उनके जो सेना और नौसेना विभागों के लिए काम करते थे। मज़दूरों के जीवन के लिए हर पल किसी विस्फोट या किसी तबाही का ख़तरा बना रहता था। पहले प्रतिक्रियावाद के भारी बूटों तले जानलेवा दुर्घटनाएँ गुज़र जाती थीं और उन पर किसी का ध्यान ही नहीं जाता था; अब किसी दुर्घटनावश मरने वाले प्रत्येक मज़दूर की अन्त्येष्टि विशाल क्रान्तिकारी प्रदर्शन का अवसर बन जाती थी।

ऐसे मज़दूरों के ताबूतों के पीछे, जिन्हें वे व्यक्तिगत रूप से जानते भी नहीं थे : "तुम शिकार बन गये" से प्रारम्भ होने वाले क्रान्तिकारी अन्त्येष्टि प्रयाण गीत गाते और मालाओं पर क्रान्तिकारी किंवदन्तियाँ लिखे लाल फीते बाँधे मज़दूरों की भीड़ चलती थी। श्मशान हज़ारों लोगों का सभास्थल बन जाता। ग़ैरक़ानूनी काम की स्थितियों में जब मज़दूर सभाएँ प्रतिबन्धित होती थीं, जब गुप्त रूप से केवल जंगलों या छोटे मकानों में मिलना ही सम्भव होता था, अन्त्येष्टियों के समय का प्रदर्शन क्रान्तिकारी महत्व हासिल कर लेता था। पार्टी संयोजक हज़ारों की तादाद में आने के लिए मज़दूरों का आह्वान करते, तैयारियों के दौरान वक्ता नियुक्त किये जाते, पर्चे वग़ैरह बाँटे जाते।

पुलिस भी ज़ोरदार तैयारियाँ करती; सभी अन्त्येष्टि जुलुसों के साथ सेना की सशक्त टुकड़ियाँ चलती थीं और श्मशान पर घुड़सवार और पैदल - दोनों तरह की पुलिस तैनात रहती थी। वे क़ब्रों के आर-पार दौड़ते, अवरोधों को कभी क़ब्र तक आने की अनुमति न देते, भाषण रुकवा देते, जो भी बोलने की कोशिश करता, उसे गिरफ़्तार कर लेते और उनकी गिरफ़्तारियों के बाद भीड़ को तितर-बितर कर देते।

ओख्ता विस्फोट में मारे गये लोगों की अन्त्येष्टियाँ जिन हालात में हुईं, उनका ज़िक्र मैं पहले ही कर चुका हूँ। अब मैं एक ऐसी अन्त्येष्टि के बारे में बताऊँगा, जिसके दौरान मैं विशेष रूप से पुलिसिया उत्पीड़न का निशाना बना और जिसकी वजह से मज़दूर आगबबूला हो उठे और जो दूमा में बहस का मुद्दा बनी। सितम्बर 1913 के प्रारम्भ में सेण्ट पीटर्सबर्ग, माइन मैन्युफ़ैक्चरिंग वर्क्स (पहले जिसका नाम पर पर्विऐनन वर्क्स था) में हुए विस्फोट में दो मज़दूर मारे गये थे। किसी मशीन का बीस पौण्ड का ढक्कन उड़कर सीधा इमारत की छत के पार चला गया था। दो मज़दूरों की वहीं पर मृत्यु हो गयी थी, और पूरा कारख़ाना उनके ख़ून से रंग गया था। विस्फोट प्रबन्धन की लापरवाही का नतीजा था, क्योंकि मशीन की जाँच नहीं की गयी थी।

9 सितम्बर को उनकी शवयात्रा में शामिल होने के लिए हज़ारों मज़दूरों ने काम बन्द कर दिया। माइन वर्क्स और पुतिलोव, ऐवाज़ और दूसरी फ़ैक्टरियों के भी मज़दूर शवयात्रा में शामिल हुए। शुरू से ही पुलिस ने जुलूस के रास्ते में अवरोध उत्पन्न किये। पहले उन्होंने मालाओं से लाल फीते निकालने की माँग की, आगे चलकर लितेनी पुल पर उन्होंने ताबूत और मालाओं को मुर्दा गाड़ी पर रखने को कहा। ...

दफ़नाते समय, और भी बहुत से मज़दूर आ गये, वे सायंकालीन भोजनावकाश के दौरान फ़ैक्टरियों से चल कर आये थे। 5000 लोगों की भीड़ लड़ने के उत्साह में थी। यह जानकर कि मैं बोलने वाला हूँ, मज़दूरों ने मेरे चारों तरफ़ मज़बूत घेरा बना दिया ताकि पुलिस के मुझ तक पहुँचने से पहले मुझे कुछ समय मिल जाये। क़ानून और व्यवस्था के रखवाले बल हथियारों से पूरी तरह लैस थे और अपने चाबुकों के इस्तेमाल के लिए बस निरीक्षकों के आदेश का इन्तज़ार कर रहे थे।

जब ताबूत क़ब्र में उतारा गया तो मैं अपना भाषण शुरू करने के लिए एक बेंच पर खड़ा हो गया :

"साथियो! ख़ून के प्यासे पूँजीपति अधिक से अधिक मुनाफ़ा कमाने के प्रयास में मज़दूरों की जान की बलि देने पर उतारू हैं। आप देख लीजिए कि मज़दूरों को अपनी कठोर और कष्टकर मेहनत का क्या इनाम मिलता है। कामकाजी वर्ग के हालात में तभी सुधार आयेगा जब वे चीज़ों को अपने हाथ में ले लेंगे..."

लेकिन मेरे मुँह से इन शब्दों का निकलना या कि पुलिसकर्मी डपट पड़े :

"उसे पकड़ो, उसे बोलने मत दो।"

पुलिस निरीक्षक ने आदेश दिया :

"घुड़सवार पुलिस, अपने चाबुक तैयार रखे!"

घुड़सवार पुलिस, भीड़ को तितर-बितर करने की कोशिश करते हुए नीचे उतर आयी। क़ब्र के निकट एक खुली लड़ाई शुरू हो गयी। कई पुलिसियों ने मिलकर मुझे बेंच से खींच कर गिरा दिया और निरीक्षक भाग कर आया, मेरी बाँह पकड़ ली और मुझसे कहा कि मुझे गिरफ़्तार कर लिया गया है। मैंने उसे अपना डिप्युटी का कार्ड दिखाया।

"आप आज़ाद हैं, लेकिन मैं आपको बोलने नहीं दूँगा। मुझे निर्देश दिये गये हैं कि मैं कोई भाषण न होने दूँ।"

इसी बीच यह सोचकर कि मुझे गिरफ़्तार कर लिया गया है, भीड़ बहुत उत्तेजित हो गयी और पुलिस को धमकाते हुए निरीक्षक को घेर लिया। अपना रुका हुआ भाषण पूरा करने के लिए मैं एक बार फिर बेंच पर चढ़ गया और शान्ति बनाये रखने और ताज़ा आकस्मिकता से बचने के लिए मज़दूरों का आह्वान किया। घुड़सवार पुलिसियों ने अपने चाबुक फटकारकर भीड़ को क़ब्र के पास से क़ब्रगाह के दरवाज़े तक पीछे खदेड़ दिया, और यह महज़ संयोग ही था कि नया ख़ून-ख़राबा नहीं हुआ।

अन्त्येष्टि में शामिल होने के लिए जुर्माना और उसका विरोध

अन्त्येष्टि के तीन महीने बाद सेण्ट पीटर्सबर्ग शहर के गवर्नर द्रचेवस्की ने मुझ पर पुलिस कार्रवाई में अवरोध उत्पन्न करने के लिए 200 रूबल के जुर्माने का आदेश जारी किया। "अधिकारी जब मुझसे मिलने आये और भुगतान की माँग की तो मैंने साफ़ इनकार कर दिया। शहर के गवर्नर का आदेश पूरी तरह ग़ैर-क़ानूनी था, क्योंकि दूमा से सम्बन्धित क़ानून कहता था कि दूमा के सदस्यों (प्रतिनिधियों) पर किसी अदालत के आदेश और स्वयं दूमा द्वारा उस आदेश की पुष्टि के बिना किसी तरह की सज़ा या जुर्माना नहीं किया जा सकता।

मैंने प्रावदा के माध्यम से मज़दूरों को डिप्युटीज़ के अधिकारों के अतिक्रमण की इस नयी कोशिश के बारे में बताया और बहुत-सी विरोध हड़तालों की घोषणा की गयीं। सबसे पहले माइन मैन्युफ़ैक्चरिंग वर्क्स में कार्रवाई शुरू की गयी, जहाँ विस्फोट हुआ था। एक दिन की हड़ताल पर सहमति हुई और एक बैठक में उनके साथी-मज़दूर की अन्त्येष्टि में बोलने पर मेरे ऊपर जुर्माना किये जाने के विरोध में एक प्रस्ताव पारित किया गया। 1000 मज़दूरों वाले लैंजेसिपेन ने इस उदाहरण का अनुकरण किया, और यह आन्दोलन जल्द ही दूसरी फ़ैक्टरियों तक फैल गया। ...

दूमा के बोल्शेविकों के सभी छह प्रतिनिधियों ने इसका कड़ा विरोध किया क्योंकि यह मज़दूरों के हक़ में बोलने के उनके अधिकार पर हमला था। संसद में पेत्रोवस्की हमारे धड़े की ओर से बोले।

"उत्पीड़न और पुलिसिया अत्याचार के बावजूद", पेत्रोवस्की ने कहा, "मज़दूर प्रतिनिधि हमेशा और हर जगह मज़दूरों के साथ खड़े रहेंगे। मज़दूरों को अपने प्रतिनिधियों की आवाज़ सुनने से न तो पुलिस रोक पायेगी और न दूमा में मौजूद ब्लैक हण्ड्रेड्स का बहुमत ही।"

"शहर के गवर्नर अपने फ़रमान पर अमल करने से डर रहे थे और उनका डर वाज़िब भी था, क्योंकि सेण्ट पीटर्सबर्ग के मज़दूर आम हड़ताल से उसका जवाब देते।"...

लेकिन दूमा ने ज़ारशाही पुलिस के दमन पर अंकुश लगाने की कोई कोशिश नहीं की। इस मामले को लेकर केवल मज़दूरों के जनप्रतिनिधि ही चिन्तित थे, और दूमा के ब्लैक हण्ड्रेड्स ने तहेदिल से पुलिसिया उत्पीड़न का अनुमोदन किया। सरकार ने दूमा से मज़दूर प्रतिनिधियों के ख़िलाफ़ मनमाना दमनकारी क़दम उठाने की अग्रिम मंज़ूरी पहले से ही ले रखी थी।

अनुवाद : **विजय प्रकाश सिंह**

डाक पंजीयन : SSP/LW/NP-319/2017-2019
प्रेषण डाकघर : आर.एम.एस, चारबाग़, लखनऊ
प्रेषण तिथि : दिनांक 20, प्रत्येक माह

संकट में धँसती पूँजीवादी व्यवस्था

संकट का सारा बोझ आम मेहनतकश जनता पर ही पड़ने वाला है!

(पेज 1 से आगे)

कोई नकारात्मक रिपोर्ट मुश्किल से ही आने पाती है, फिर भी सेंसेक्स अगस्त की ऊँचाई से 9% नीचे चला गया है। कितनी ही नक़दी झोंकने, टैक्स छूट, राहतें देने पर भी ऊपर जाने का नाम नहीं ले रहा है।

यहाँ भारत सरकार की अपनी वित्तीय स्थिति को देखें तो वह अभी भारी वित्तीय संकट से जूझ रही है। आम चुनाव के पूर्व वित्तीय संकट की गम्भीरता को कम दिखाने हेतु इस साल आयकर के रिफ़ण्ड बहुत धीरे दिये जा रहे हैं, लगभग 1 लाख करोड़ रुपये के रिफ़ण्ड रोक रखे गये हैं। जीएसटी के रिफ़ण्ड की भी यही स्थिति है। फिर भी पहले 7 महीनों में ही वित्तीय घाटा पूरे वित्तीय वर्ष के बजट लक्ष्य का 104% हो चुका है। कोटक सिक्योरिटीज़ की रिपोर्ट के अनुसार जीएसटी वसूली लक्ष्य से एक लाख करोड़ रुपये कम रहने वाली है। वित्तीय घाटे को छिपाने के लिए सरकार ऑफ़ बजट वित्तपोषण का भी सहारा ले रही है अर्थात अपने ख़र्चों के लिए जाने वाले क़र्ज़ सार्वजनिक क्षेत्र की कम्पनियों के नाम पर ले रही है जिन्हें बजट में दिखाने की आवश्यकता न हो। जैसे रेलवे में काम इरकॉन के नाम पर क़र्ज़ लिया गया, विद्युत क्षेत्र में कुछ करना है तो पावर फाइनंस कॉर्पोरेशन के नाम पर और खाद्य सबसिडी है तो एफ़सीआई के नाम पर। इसीलिए बजट के आँकड़े देखें तो सरकार पर क़र्ज़ कम नज़र आता है। लेकिन यह ख़र्च बजट सम्बन्धित घोषणाओं पर ही हुआ है और अन्त में इसका भुगतान भी सरकारी कोष से ही होगा। तब अचानक पता चलेगा कि भारी संकट है, शायद ठीक चुनाव बाद वाले बजट में। फिर संकट से निपटने के लिए उपाय होगा - जनता पर नये टैक्स लादो, किराये-भाड़े, बिजली-डीजल की दर बढ़ाओ, राशन, शिक्षा-दवाई में कटौती करो, या औने-पौने दामों में कुछ सार्वजनिक सम्पत्तियों का निजीकरण कर दो।

उधर सीएमआईई के अनुसार दिसम्बर 2018 में समाप्त तिमाही में उद्योगों में नये पूँजी निवेश के निर्णय पिछले 14 साल के निम्नतम स्तर पर हैं। इस स्थिति में **नये रोज़गार सृजन की बात तो भूल जाना ही बेहतर है। बल्कि 2018 के वर्ष में ही 1 करोड़ 10 लाख रोज़गार नष्ट हो गये। दिसम्बर 2017 में 40 करोड़ 80 लाख व्यक्ति रोज़गाररत थे, किन्तु दिसम्बर 2018 में घटकर 39 करोड़ 70 लाख ही रह गये। 91 लाख लोग गाँवों में बेरोज़गार हुए तो 18 लाख शहरों में। 88 लाख महिलाओं को रोज़गार से हाथ धोना पड़ा तो 22 लाख पुरुषों को। बेरोज़गार होने वाली महिलाओं में से 65 लाख ग्रामीण हैं और 23 लाख शहरी। यह भी सामने आया कि अधिकांश बेरोज़गार हुए लोग ग़रीब सफ़ाई करने वाले, चपरासी, चौकीदार, दिहाड़ी, ठेके वाले मज़दूर हैं। बात साफ़ है कि जो पहले से ही पिछड़े, ग़रीब, शोषित हैं, उन पर पूँजीवादी व्यवस्था का संकट उतनी ही अधिक मुसीबतों का बायस बन रहा है।**

साथ ही बैंकिंग व्यवस्था का संकट पहले की तरह ही बदस्तूर जारी है। बैंकों की स्थिति बेहतर दिखाने के लिए उन्हें छूट दी जा रही है कि वे डूबे क़र्ज़ों को भी एनपीए वर्गीकृत न करें। लघु एवं मध्यम उद्योग, विद्युत क्षेत्र, आदि के लाखों करोड़ रुपये के डूबे क़र्ज़ इसी प्रकार छिपाये जा रहे हैं। लेकिन कुछ समय बाद ये सब एक झटके में ही एनपीए बनेंगे। मोदी द्वारा बड़े ज़ोर-शोर से प्रचारित मुद्रा ऋणों का हाल भी रिज़र्व बैंक की हाल की रिपोर्ट में सामने आ गया है। बेरोज़गारी मिटाने हेतु स्व-रोज़गार को प्रोत्साहित करने वाले क़र्ज़ में होने वाले एनपीए का हाल देखिए : 2015-16 के वर्ष में 597 करोड़ रुपये, 2016-17 के साल में 3790 करोड़ रुपये और 2017-18 के वर्ष में बढ़कर 7277 करोड़ रुपये। रिज़र्व बैंक ने सरकार को चेतावनी भी दी है कि ये मुद्रा क़र्ज़ आगे डूबे क़र्ज़ों का एक बड़ा स्रोत सिद्ध होने वाले हैं। बात फिर वही है कि जब आर्थिक संकट का मर्ज पूँजीवादी उत्पादन सम्बन्धों से पैदा हो रहा है तो क़र्ज़ देकर बाज़ार में नक़दी फेंकने से उसका इलाज करने की बात ऐसी ही है, जैसे भूख से कमज़ोर व्यक्ति को विटामिन की रंगबिरंगी गोलियाँ देना। स्पष्ट पता चलता है कि इससे कितना रोज़गार प्राप्त हो रहा है। हाँ, अब नोटबन्दी-जीएसटी से कुछ उखड़े संघ समर्थक छोटे कारोबारी तबक़े को चुनाव से पहले साधने के लिए रिज़र्व बैंक ने इनके लिए नयी योजना का ऐलान किया है। इसके अन्तर्गत लघु-मध्यम कारोबारों के 25 करोड़ रुपये तक के क़र्ज़ अगर नहीं भी चुकाये जा रहे हों तो भी बैंक उन्हें अभी एनपीए घोषित करने के बजाय पुनर्गठित कर देंगे। अर्थात क़र्ज़ चुकाने के लिए तय वक़्त में छूट दे देंगे।

रिज़र्व बैंक की ट्रेण्ड्स एण्ड प्रोग्रेस ऑफ़ बैंकिंग इन इण्डिया नामक इसी रिपोर्ट में ही बड़े पैमाने पर डूबे क़र्ज़ों के राइट ऑफ़ की सच्चाई भी सामने आयी। जब हम कहते हैं कि पूँजीपतियों के क़र्ज़ बड़े पैमाने पर माफ़ कर दिये गये हैं तो बीजेपी की ओर से भक्त अर्थशास्त्री और विशेषज्ञ 'तर्क' देते आये हैं कि ये माफ़ नहीं किये गये सिर्फ़ तकनीकी तौर पर राइट ऑफ़ किये गये हैं और राइट ऑफ़ करने का अर्थ यह नहीं कि अब ये वसूल नहीं किये जायेंगे। अब रिज़र्व बैंक की रिपोर्ट के निम्न आँकड़े देखिए : एनपीए राइट ऑफ़ (2014-15 से 2017-18) = 3,16,515 करोड़ रुपये; इसी दौर में राइट ऑफ़ किये गये क़र्ज़ में से हुई वसूली = 32,693 करोड़ रुपये। अगर हम इसके आधार पर ही देखें तब भी ज़ाहिर है कि राइट ऑफ़ के बाद वसूली 10% ही है। लेकिन असल बात समझने के लिए यह भी जानना ज़रूरी है कि जैसे ही क़र्ज़ एनपीए होता है बैंक उस पर लगने वाला ब्याज और अन्य दण्ड जोड़ना बन्द कर देता है अर्थात राइट ऑफ़ की गयी रक़म असली देनदारी नहीं बल्कि मात्र मूल रक़म ही होती है। अगर जमा न किये गये सूद व दण्ड को जोड़कर असली देनदारी का हिसाब लगाया जाये तो राइट ऑफ़ की पूरी रक़म में से वसूली सिर्फ़ 5-6% ही होती है। 100 रुपये क़र्ज़ की रक़म में से मात्र 5-6 रुपये की वसूली और बाक़ी बट्टे खाते में डालने को क़र्ज़ माफ़ी न माना जाये तो क्या माना जाये? मुनीमगिरी की इस हेराफेरी से क्या इस वास्तविकता को छिपाया जा सकता है कि बैंकिंग व्यवस्था के ज़रिये मेहनतकश जनता की लूट और सरमायेदारों को ख़ैरात का एक बड़ा भारी गोलमाल चालू है?

दिवालिया क़ानून के ज़रिये मोदी द्वारा बैंक क़र्ज़ों की वसूली के व्हाट्सप्प फ़ॉरवर्ड तो ख़ूब चलाये गये हैं, पर इस मामले में भी असलियत कुछ और ही है। रुचि सोया नामक कम्पनी के मामले में अदानी विल्मार ने 5700 करोड़ रुपये की बोली लगायी और इस वसूली की ख़बर मीडिया में ख़ूब ज़ोरों से आयी। पर जब भुगतान का वक़्त आया तो अदानी ने इंकार कर दिया, कहा बोली लगाते वक़्त तथ्यों की सही जानकारी नहीं थी। पर अब ये ख़बर मीडिया में बहुत छोटी सी कहीं आयी। ऐसा ही मामला अमटेक ऑटो, आधुनिक मेटल्स, आरकिड फ़ार्मा का भी है जहाँ ऐसी ही बड़ी रक़म की बोली की बड़ी ख़बर के बाद असल में कोई भुगतान न होने की बात गुपचुप दब गयी। सिर्फ़ इस्पात ही एक ऐसा क्षेत्र था जहाँ टाटा, मित्तल और जिन्दल की प्रतियोगिता के कारण भूषण इस्पात कुछ अच्छे दामों में टाटा ने ख़रीद ली। यही एक बड़ी वसूली है जो नतीजे पर पहुँची है। अन्यथा दिवालिया क़ानून में जाने वाले 80% से अधिक मामलों में कोई ख़रीदार ही नहीं मिल रहा है और कम्पनियाँ बन्द होकर उनकी सम्पत्ति कबाड़ के मोल बेची जा रही है। जहाँ ख़रीदार मिल भी रहे हैं, वहाँ कितनी वसूली हो रही है, उसके कुछ उदाहरण ये हैं : जिआन इस्पात = 5,367 करोड़ रुपये में से 0.03%, सिनर्जी दूरे ऑटो = 972 करोड़ रुपये का 5.6%, ओड़ीसा मैंगनीज = 5,388 करोड़ रुपये का 5.8%, आधुनिक मेटल्स = 5,371 करोड़ रुपये का 7.6%, मोनेट इस्पात = 11,015 करोड़ रुपये का 26%।

लेकिन **डूबने वाली यह सारी रक़म पूँजीपति वर्ग की सरकारें मेहनतकश जनता से ही वसूल करने वाली हैं, नये-नये शुल्क लगाकर, अप्रत्यक्ष कर बढ़ाकर, किराया-भाड़ा बढ़ाकर, नियन्त्रित वस्तुओं की क़ीमतें बढ़ाकर, वग़ैरह।** मनीलाइफ़ फ़ाउण्डेशन द्वारा हाल में लगाये गये एक मोटे हिसाब के अनुसार मात्र बैंक ही सालाना एक लाख करोड़ रुपये आम लोगों से विभिन्न नामों पर उगाह ले रहे हैं जिनमें 10 हज़ार करोड़ से अधिक तो सिर्फ़ न्यूनतम बैलेंस न होने पर लगाया गया शुल्क है। यह शुल्क सबसे ग़रीब लोगों, नरेगा में मज़दूरी करने वालों, प्रवासी मज़दूरों, आदि पर ही लगता है, जो खाते में न्यूनतम बैलेंस नहीं रख पाते और अपने ख़ून-पसीने से कमाई रक़म का एक हिस्सा बैंकों को लुटवा बैठते हैं, ताकि ये बैंक बड़े सरमायेदारों के क़र्ज़ माफ़ कर सकें।

इस बीच एक ध्यान देने लायक़ समाचार मोदी की ग़रीबों के मुफ़्त इलाज के नाम पर शुरू की गयी 'आयुष्मान भारत' योजना के बारे में है। 8 जनवरी 2019 को मोदी की इस योजना को सफल बनाने के लिए सरकार ने निजी निवेश को प्रोत्साहित करने वाले कुछ फ़ैसले लिये हैं। इसके अनुसार सरकार निजी अस्पतालों को हर शर्त व भार से मुक्त ज़मीन देगी। अस्पताल को लाभप्रद बनाने हेतु निर्माण की कुल लागत का 40% देगी। पूँजीगत लागत पर कर का 50% भी सरकार देगी। पर इसके बाद भी अस्पताल पूरी तरह निजी मालिकाने में ही रहेगा। कुल मिलाकर मतलब यह कि अस्पताल बनाने में लागत शून्य ही नहीं बल्कि मालिकों को निर्माण से पहले ही मुनाफ़ा हो जायेगा। लागत को दोगुना-तिगुना दिखाना तो बड़ा आसान काम है। इन रियायतों के नाम पर निर्माण लागत से ज़्यादा ही रक़म निजी मालिकों को मिल जायेगी और मुफ़्त में अस्पताल तैयार! फिर सरकारी बीमा योजना के बिलों से मुनाफ़ा और बाक़ी लूट अलग। लेकिन इतना पैसा ख़र्च कर तो सरकारी अस्पताल बनाकर मुफ़्त इलाज की सुविधा ही दी जा सकती थी। पूँजीवादी व्यवस्था में जनकल्याण के नाम पर शुरू की गयी योजनाओं के ख़र्च का वास्तविक लाभ किसे होता है, यह भी इससे अच्छी तरह समझा जा सकता है।

इसी बीच जारी दिसम्बर 2018 के थोक मूल्य सूचकांक के नये आँकड़े के अनुसार सूचकांक में पिछले महीनों के मुकाबले बड़ी गिरावट हुई है। दिसम्बर महीने में थोक महँगाई दर 3.80 फ़ीसदी रही है, यह पिछले 8 महीनों का सबसे निचला स्तर है। थोक महँगाई में यह नरमी ईंधन और ख़ाने-पीने की चीज़ों के सस्ता होने के चलते देखने को मिली है। जानकारी के लिए आपको बता दें कि वर्ष 2017 के दिसम्बर में थोक महँगाई दर 3.58 फ़ीसदी रही थी। सरकारी आँकड़े बता रहे हैं कि खाद्य और कृषि सामग्री में अपस्फीति की दर दिसम्बर में 0.07 थी जोकि नवम्बर में 3.31 प्रतिशत थी। मतलब साफ़ है, जहाँ कुछ बड़े किसान तो न्यूनतम समर्थन मूल्य तक पहुँच और अपनी भण्डारण क्षमता के कारण फ़सल का ठीक-ठाक मूल्य पा जाते हैं, वहीं अधिकांश छोटे सीमान्त गरजबेचा किसान अपना उत्पादन आढ़तियों व बड़े किसानों को कम क़ीमत में बेचने को मजबूर हैं। यह संकट उन किसानों के लिए और अधिक परेशान करने वाला है, जिन्होंने कृषि ऋण लेकर खेती की है। इसका सीधा फ़ायदा बड़े किसानों और आढ़तियों को हो रहा है। अतः अधिकांश किसानों के क़र्ज़ में फँसने व बर्बाद होने की दर्दनाक प्रक्रिया और भी तेज़ हो रही है। इसलिए विभिन्न चुनावबाज पार्टियों की कृषि संकट का उपाय ऋण माफ़ी द्वारा करने का दावा भ्रमजाल और पूँजीवादी व्यवस्था की चाकरी से ज़्यादा कुछ नहीं है।

सरकारी वित्तीय स्थिति की वर्तमान हालत को देखते हुए कहा जा सकता है कि अगले आम चुनाव के बाद सरकार मोदी नेतृत्व वाले राजग की आये या राहुल गाँधी वाले यूपीए या किसी तीसरे की, सम्भवतः जुलाई में पेश होने वाले पहले ही बजट में इस सारे संकट का बोझ आम मेहनतकश जनता पर डाला जायेगा और उनकी स्थिति पहले इस मार के कारण पहले से भी बदतर होने वाली है। वैश्विक स्तर से देशी पूँजीवादी अर्थव्यवस्था तक का यह घनघोर ढाँचागत संकट ही है, जो अब किसी सरकार को साल या महीने तो छोड़िए, कुछ दिनों के लिए भी जनपक्षधर होने का मुखौटा ओढ़ने तक का मौक़ा नहीं दे रहा है। लोकसभा चुनावों के ठीक कुछ महीने पहले बनी कुछ राज्यों की कांग्रेस सरकारें तक आसन्न चुनावों में फ़ायदे के लिए अस्थाई तौर पर भी जनपक्षधर होने का दम नहीं भर पायीं और अपना मुखौटा नोचकर सरमायेदारों के सेवक होने के अपने असली स्वरूप में आ गयीं। यही केन्द्र की सरकार के स्तर पर भी होने वाला है। **किसी भी दल या गठबन्धन की सरकार हो अगर उसे आर्थिक क्षेत्र में जनता पर निर्मम हमला बोलना है तो राजनीतिक क्षेत्र में भी प्रतिगामी होना ही पड़ेगा और फ़ासिस्ट ताक़तों को जनता पर हरचन्द हमले, उन्हें आपस में बाँटने की छूट भी देनी ही होगी, ये सभी बुर्जुआ चुनावी दलों की अनिवार्य ज़रूरतें हैं, चाहे उनके भाषण, घोषणाएँ, आदि कुछ भी कहती हों।**

मुद्रक, प्रकाशक और स्वामी कात्यायनी सिन्हा द्वारा 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006 से प्रकाशित और उन्हीं के द्वारा मल्टीमीडियम, 310, संजय गांधी पुरम, फ़ैज़ाबाद रोड, लखनऊ से मुद्रित। सम्पादक: सुखविन्दर, अभिनव ● सम्पाकीय पता: 69 ए-1, बाबा का पुरवा, पेपरमिल रोड, निशातगंज, लखनऊ-226006